ॐ

वीतरागायनमः

धर्मपुर, चैत्र वदी ४, बुध, १९५६

पत्र प्राप्त हुआ। यहाँ समाधि है।

अकस्मात् शारीरिक असाता का उदय हुआ है और शांत स्वभाव से उसका वेदन किया जाता है, ऐसा जानते थे, और इससे संतोष प्राप्त हुआ था।

समस्त संसारी जीव कर्मवशात् साता-असाता के उदय का अनुभव किया ही करते हैं। जिसमें मुख्यतः तो असाता के ही उदय का अनुभव किया जाता है। क्वचित् अथवा किसी देह संयोग में साता का उदय अधिक अनुभव में आता हुआ दिखाई देता है, परंतु वस्तुतः वहाँ भी अंतर्दाह जला ही करता है। पूर्ण ज्ञान भी जिस असाता का वर्णन कर सकने योग्य वचनयोग नहीं रखते, वैसी अनंतानंत असाता इस जीवने भोगी है, और यदि अब भी उनके कारणों का नाश न किया जाये तो भोगनी पड़े, यह सुनिश्चित है, ऐसा समझकर विचारवान उत्तम पुरुष उस अंतर्दाहरूप साता और

बाह्याभ्यंतर संक्लेशाग्निरूप से प्रज्वलित असाता का आत्यंतिक वियोग करने के मार्ग की गवेषणा करने के लिये तत्पर हुए और उस सन्मार्ग की गवेषणा कर, प्रतीति कर उसका यथायोग्य आराधन कर अव्याबाध सुखस्वरूप आत्मा के सहज शुद्ध स्वभावरूप परमपद में लीन हुए।

साता-असाता का उदय अथवा अनुभव प्राप्त होनेके मूल कारणों की गवेषणा करते हुए उन महान पुरुषों को ऐसी विलक्षण सानंदाश्चर्यकारी वृत्ति उद्‌भूत होती थी कि साता की अपेक्षा असाता का उदय प्राप्त होनेपर और उसमें भी तीव्रता से उस उदय के प्राप्त होनेपर उनका वीर्य विशेषरूप से जाग्रत होता था, उल्लसित होता था, और वह समय अधिकता से कल्याणकारी माना जाता था।

कितने ही कारणविशेष के योग से व्यवहारदृष्टि से ग्रहण करने योग्य औषध आदि आत्म-मर्यादा में रहकर ग्रहण करते थे; परंतु मुख्यतः वे परम उपशम की ही सर्वोत्कृष्ट औषधरूप से उपासना करते थे।

उपयोग-लक्षण से सनातन-स्फुरित ऐसे आत्मा को देह से, तैजस और कार्मण शरीर से भी भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि सिद्ध करके, वह चैतन्यात्मकस्वभाव आत्मा निरंतर वेदक स्वभाववाला होनेसे अबंधदशा को जब तक संप्राप्त न हो तब तक सात-असातारूप अनुभव का वेदन

किये बिना रहनेवाला नहीं है यह निश्चय करके, जिस शुभाशुभ परिणामधारा की परिणति से वह साता-असाता का संबंध करता है उस धारा के प्रति उदासीन होकर, देह आदि से भिन्न और स्वरूपमर्यादा में रहे हुए उस आत्मा में जो चल स्वभावरूप परिणामधारा है उसका आत्यंतिक वियोग करने का सन्मार्ग ग्रहण करके, परम शुद्धचैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोग से सकलंक परिणाम प्रदर्शित करता है उससे उपरत होकर, जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये उस उपयोग में और उस स्वरूप में स्थिर हुआ जाये, अचल हुआ जाये, वही लक्ष्य, वही भावना, वही चिंतन और वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना योग्य है। महात्माओं की वारंवार यही शिक्षा है।

उस सन्मार्ग की गवेषणा करते हुए, प्रतीति करने की इच्छा करते हुए, उसे संप्राप्त करने की इच्छा करते हुए ऐसे आत्मार्थी जनको परमवीतरागस्वरूप देव, स्वरूपनैष्ठिक निःस्पृह निर्ग्रंथ रूप गुरु, परमदयामूल धर्मव्यवहार और परमशांतरस रहस्य-वाक्यमय सत्शास्त्र, सन्मार्ग की संपूर्णता होने तक परमभक्ति से उपासनीय है; जो आत्मा के कल्याण के परम कारण हैं।

यहाँ एक स्मरण-संप्राप्त गाथा लिखकर यहाँ इस पक्ष को संक्षिप्त करते हैं।

भीसण नरयगईए, तिरियगईए कुदेवमणुयगईए।
पत्तेसि तिव्व दुःखं, भावहि जिणभावणा जीव।।

भयंकर नरकगति में, तिर्यंचगति में और बुरी देव तथा मनुष्यगति में हे जीव ! तू तीव् दुःख को प्राप्त हुआ, इसलिये अब तो जिन-भावना (जिन भगवान जिस परमशांतरस में परिणमन कर स्वरूपस्थ हुए, उस परमशांतस्वरूप चिंतन) का भावन-चिंतन कर (कि जिससे वैसे अनंत दुःखों का आत्यंतिक वियोग होकर परम अव्याबाध सुखसंपत्ति संप्राप्त हो।)

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

प्रवचन - १ दि. १७-११-१९९४
पत्रांक-९१३ (स्थल-घाटकोपर)

`श्रीमद् राजचंद्र' वनचामृत, पत्रांक-९१३। `वनमालीदासभाई' करके कोई महाभाग्यशाली मुमुक्षउ को लिखा हुआ यह पत्र है। आत्मस्वरूप प्राप्ति की विधि - कार्य पद्धति अति सूक्ष्म है और ऐसे अति सूक्ष्म विषय का इस पत्र में निरूपण हुआ है। स्वरूप प्रप्ति

की विधि के विषय में ऐसा निरूपण और कहीं नहीं आया, ऐसा निरूपण इस पत्र के अंदर आया है। इसलिए जिनको यह पत्र लिखा है वे वास्तव में कोई अत्यंत सुपात्र मुमुक्षु जीव होने चाहिए कि जिनको लक्ष में रखकर `कृपालुदेव'ने अपना हृदय खोला है।

पत्र का विषय तो कोई असाता के उदय प्रसंग से शुरू हुा है। (लिखते हैं) `**पत्र प्राप्त हुआ। यहाँ समाधि है।**' `वनमालीदासभाई' का पत्र प्राप्त हुआ है और खुद की दशा का उल्लेख किया है कि, हमें यहाँ समाधिदशा वर्तती है। ज्ञानी पुरुष चाहे जैसे उदय प्रवृत्ति में हो, तो भी निरंतर आत्मसमाधि में वर्तते हैं। ऐसी जो आत्म धारा, इसे आत्म धारा कहो - चैतन्य धारा कहो - ज्ञान धारा कहो, यह उनका मुख्य परिणमन है। वृत्ति की अपेक्षा से यह मुख्य वृत्ति है और यही ज्ञानी पुरुष का सच्चा जीवन है। उदयमान परिणाम तो ऊपर-ऊपर के (परिणाम हैं); जिनके साथ संबंध नहीं ऐसे, जिनके साथ संबंध छूट गया है ऐसे भिन्न रूप से अनुभव में आने वाले भाव हैं। यह ज्ञानी पुरष का जीवन नहीं। (जो) दिखता है वह गलत दिखाई देता है। वास्तविक जीवन तो उनका आत्म समाधिरूप ज्ञान धारा है।

`वनमालीदास भाई' को कोई असाता का उदय हुआ है उसका (प्रथम) उल्लेख किया है। `**अकस्मात् शारीरिक असाता का उदय हुआ है और शांत स्वभाव से उसका वेदन किया जाता है, ऐसा जानते थे और इससे संतोष प्राप्त हुआ था।**' क्या कहते हैं ? कि, आपके उदय का समाचार किसी के द्वारा मालूम हुआ कि, अकस्मात आपको शारीरिक असाता का उदय हुआ है और उस उदय को आप शांत स्वभाव से वेदते हैं। इतने सुपात्र और सुयोग मुमुक्षु थे। ऐसा जानने में या और यह जानकर हमें संतोष भी

हुआ था कि, यह आपकी योग्यता है इसके अनुसार आपका परिणमन, प्रतिकूलता के उदय में भी अशांत व आकुलित नहीं होते हुए आप शांत स्वभाव से इसे वेदते हैं। यह एक बहुत अच्छा लक्षण है।

अब इस विषय पर जो तत्त्व ज्ञान का निरूपण करना है वह अब अगले पैराग्राफ में करते हैं। `**समस्त संसारी जीव कर्मवशात् साता-असाता के उदय का अनुभव किया ही करते हैं।**' किसी को क्वचित् साता का उदय है, बहुभाग तो संसारी जीव असाता का ही वेदन किया करते हैं। समस्त संसारी जीव अपने खुद के कर्मों के अनुसार साता व असाता के उदयों का अनुभव किया ही करते हैं। आत्मा का अनुभव तो संसारी जीवों को है नहीं, आत्म सुख और आत्मशांति का अनुभव नहीं है इसलिए साता-असाता दोनोंमें से एक का उदय क्रम से वेदते हैं। क्वचित् साता (और) प्रायः असाता (वेदते हैं)। यही कहते हैं।

`**जिसमें मुख्यतः तो असाता के ही उदय का अनुभव किया जाता है।**' समस्त संसारी जीवों को मुख्यरूप से तो असाता के ही उदय का अनुभव होता है। `**क्वचित् अथवा किसी देह संयोग में साता का उदय अधिक अनुभव में आता दिखाई देता है,...**' (अर्थात्) किसी के देह की तंदुरस्ती अच्छी हो ऐसे बहुत कम संसारी जीव होते हैं तो उन्हें क्वचित् साता का उदय अधिक - अच्छी मात्रा में हो तो भी `**वस्तुतः वहाँ भी अंतर्दाह जला ही करता है।**' मानसिक असाता ! अंतर्दाह ! शारीरिक सुखाकारी हो तो भी अज्ञान दशा में अनेक प्रकार के असमाधान से उत्पन्न हुई आकुलतारूप असाता होती है और समस्त संसारी जीव सातों भय से ग्रसित हैं। मरण भय, अकस्मात भय, वेदना का भय, चोरी का भय, लुँटने का भय, आखिर में परलोक की गति का भय, आलोक

भय, परलोक का भय (ऐसे) (सात) भय में सारे भय आ जाते हैं। कोई बाकी नहीं रहता।

खुद का अव्याबाध शाश्वत स्वरूप के अज्ञान के कारण, `किसी को किसी प्रकार की बाधा आ पड़ेगी तो !' (ऐसे) आने से पहले ही (भयभीत होते हैं)। मृत्यु आई नहीं तो भी चाहे जब मृत्यु हो गई तो ! ऐसा भय समस्त संसारी प्राणियों को सताया करता है और भय से ग्रसित परिणाम से जिसकी परिणति हो गई है इसलिए पता नहीं चलता। परिणति हो जाती है तब उपयोग नहीं होता। परंतु इन भय से ग्रसित जीव इन दुःखों से हमेशा हमेशा पीड़ित होते हैं। इसे यहाँ एक शब्द में ऐसा कहा कि, `**अंतर्दाह** !' यह एक अंदर में उत्पन्न हुई जलन है। शारीरिक साता होते हुए भी वास्तव में तो अंतर दाह से जीव जला ही करता है। यह समस्त संसारी जीवों का चित्र है। और इसे विशेष विचारने पर अनुभव गोचर होवे ऐसा है।

`**पूर्ण ज्ञानी भी जिस असाता का वर्णन कर सकने योग्य वचनयोग नहीं रखते, वैसी अनंतानंत असाता इस जीव ने भोगी है,...**' क्या कहते हैं ? पूर्ण ज्ञानी मतलब सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वदेव भी जिसका वर्णन करने का वचन सामर्थ्य नहीं रखते ऐसी असाता !! क्योंकि यह वेदना का विषय है, वचन का विषय नहीं - कथन का विषय नहीं। वैसी अनंत-अनंत असाता इस जीव ने भूतकाल में अनंत बार भोगी है। अभी भूल गया इसलिए भोगी नहीं, ऐसा नहीं है। बचपन के दुःकों के बारे में यदि बालक को उसके माँ-बाप कहें कि, `देखो तुम्हे ऐसा हुआ था... ऐसा हुआ था... ! तब तो चीख और हंगामा मचा दिया था !' अभी याद न हो तो उससे कोई दुःख नहीं था ऐसा थोड़ी है ? इस तरह भूतकाल के अनंत भवों में

नरक आदि की अनंत वेदना (भोगी है)। पाँच परावर्तन में कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव बाकी नहीं रहे कि जहाँ यह जीव उत्पन्न नहीं हुआ और दुःखी नहीं हुआ हो। ऐसी अनंत असाता इस जीव ने भोगी है।

`**और यदि अब भी उनके कारणों का नाश न किया,...**' ऐसी असाता उत्पन्न होने के जो कारण हैं (अर्थात्) विभाव परिणाम हैं, विकारी परिणाम हैं उनका नाश नहीं किया तो वह `**भोगनी पड़े, यह सुनिश्चित है,...**' अच्छी तरह यह निश्चित है कि, इस वेदना को भुगतनी ही पड़ेगी - (यह वेदना) भोगनी ही पड़ेगी।

`**ऐसा समझ कर विचारवान उत्तम पुरुष उस अंतर्दाहरूप साता और बाह्याभ्यंतर संक्लेशाग्निरूप से प्रज्वलित असाता का आत्यंतिक वियोग करने के मार्ग की गवेषणा करने के लिए तत्पर हुआ और उस सन्मार्ग की गवेषणा कर, प्रतीति कर उसका यथायोग्य आराधन कर अव्याबाध सुखस्वरूप आत्मा के सहज शुद्ध स्वभावरूप परमपद में लीन हुए।**' इतना वचनामृत है। फिर से, जीवने अनंत बार अनंत दुःख भोगे हैं ऐसा जिनको जानने में आता है और जानने के बाद उसका उपाय खोजने के लिए जो तत्पर होते हैं उन्हें यहाँ `**विचारवान उत्तम पुरुष**' कहा गया है। कैसा कहा ? `**विचारवान उत्तम पुरुष** !' इसलिए कहा कि, इस मार्ग को - इस उपाय को खोजकर इस मार्ग को पाकर, इस मार्ग की आराधना कर अनंत अव्याबाध सुख रूप प्राप्ति की। इस प्रकार से उपाय में रहे इसलिए उन्हें `**विचारवान**' और `**उत्तम पुरुष**' कहा गया है।

अब एक सामान्य विचार करें (कि), दुःख किसे चाहिए ? किसी भी जीव को पूछे कि, दुःख किसे चाहिए ? विशेष विचार किए बिना भी उत्तर यही मिलने वाला है कि, बिलकुल दुःख एक

सेंकड़ के लिए भी किसी को नहीं चाहिए। ऐसा स्पष्ट अभिप्राय होने पर भी जीव दुःख से मुक्त नहीं हो पाता, अरे...! दुःख से तो मुक्त नहीं हो सकता परंतु दुःख के कारणों के सेवन से भी मुक्त नहीं हो सकता ! यह एक खेद सहित आश्चर्य हो ऐसी घटना है ! जगत के जीवों की यह परिस्थिति और यह घटना एक दुःखद आश्चर्य होवे ऐसी है !! इसलिए इस संबंधित यथार्थ विचार कर सके और इस मार्ग का (जो) आराधन कर सके उन्हें यहाँ `**विचारवान उत्तम पुरुष**' कहने में आया है।

`**ऐसा समझ कर विचारवान उत्तम पुरुष उस अंतर्दाहरूप साता,...**' कैसी साता कहीं ? बाहर में साता है परंतु अंदर में आकुलता है। ऐसी `**अंतर्दाहरूप साता और बाह्याभ्यंतर संक्लेशाग्निरूप से प्रज्वलित असाता...**' इन (जीवों को) तो बाहर और अंदर, बाहर में भी क्लेश और अंदर में भी क्लेश (है)। (दोनों जगह प्रज्वलित) ऐसी जो असाता की ज्वाला; जैसे होली की ज्वाला उठे और ताप लगे, इस तरह जो जीव संसार ताप से तापित हो और आत्मशांति को खोजता हो - दृढ़ता हो, ऐसे जीव को यहाँ `**विचारवान पुरुष**' कहने में आया है।

इसका `**आत्यंतिक वियोग करने के मार्ग की गवेषणा करने के लिए तत्पर हुए,...**' इसका अर्थ यह होता है कि, आत्म शांति का जो मार्ग है वह शोधक जीवों का मार्ग है। कैसे जीव का मार्ग है ? शोधक जीव का मार्ग है। जो मार्ग को खोजता है उसे उसकी प्राप्ति होती है। जो इस मार्ग को खोजने को तैयार नहीं और रूढ़िगत रूप से रूढ़ि धर्म अनुसार चलते हैं उन्हें इस मार्ग की प्राप्ति कभी नहीं होती। मार्ग तो मार्ग है। यहाँ पर मार्ग मतलब उपाय - सुखी होने का उपाय। यह सुखी होने का उपाय

जिनेश्वरों ने खुद Research (शोध० करके प्रगट किया है। भौतिक शोध तो ऐसी है कि जिसमें नई शोध करनी पड़ती है। यहाँ तो अनंत तीर्थंकरों ने खुद इस मार्ग को खोजकर प्रसिद्ध किया है, तभी यह मार्ग उनको काम में आया है, यह उपाय हमारे काम में आने के लिए हमें अपने अंदर शोध करनी होगी। तब इस मार्ग का पता लगेगा। खुद यदि शोध न करें तो इस मार्ग का पता लगे नहीं।

(इस तरह विचारवान पुरुष) इस मार्ग की गवेषणा हेतु तत्पर हुए और उस मार्ग की गवेषणा की। गवेषणा की मतलब शोध की, जाना, विश्वास किया। (मतलब) जानकर विश्वास किया। यह एक महत्त्व का विषय है। किसी महत् पुण्य के योग से हमें ऐसा विषय - लोकोत्तर विषय जानते तो मिला है। जिन महात्माओं ने मार्ग को प्राप्त किया उनके वचनामृत ग्रंथ के रूप में हमारे सामने आरु हैं। मार्ग समझने मिल रहा है, जानने मिलता है (लेकिन) इसकी प्रतीति आनी यह एक बहुत महत्त्व का विषय है। प्रतीति होना मतलब अंदर से विश्वास आना - भरोसा होना (कि) `यही मार्ग है, यही उपाय है और जीवन में यही कर लेने जैसा है !' जब प्रतीति आती है तब तथारूप विश्वास आता है कि, `यही मार्ग है और जीवन में इस मार्ग को प्राप्त कर लेने जैसा है।' इसलिए ऐसा कहते हैं कि, देखो अभी - यह मौका यह वस्तु सामने आई है, समझने मिली है फिर भी यह जीव इसका मूल्यांकन न कर सका तो बार-बार ऐसा मौका नहीं मिलता है। कोई भी कारणवश समझने पर भी इसका मूल्यांकन न हुआ तो इसका विश्वास नहीं आएगा।

फिर से, (यह बात) बुद्धिगोचर (होना मतलब) ज्ञान का मतिश्रुत

ज्ञान का क्षयोपशम होने से इसकी समझ होना, यह एक बात है। और उसका मूल्यांकन होकर प्रतीति होना, विश्वास आना यह दूसरी बात है। जब तक उसका मूल्यांकन होकर विश्वास नहीं आता तब तक वह समझ, समझ के रूप से काम नहीं आती। अथवा ऐसी समझ और नासमझ में कोई खास फ़र्क नहीं।

एक दृष्टांत लेते हैं - एक मृत्यु को प्राप्त करारु ऐसा भयंकर रोग - अभी तो होगा कि नहीं होगा ? हुआ होगा कि नहीं हुआ होगा ? परंतु कुछ गड़बड़ है, तबियत में कुछ गड़बड़ है ऐसी खबर मिलते ही सारी जिंदगी का मूल्यांकन एक जगह हो जाता है कि, चाहे जैसे भी इस रोग से छूटना होगा। वरना कब आयुष्य पूरा होगा यह कह नहीं सकते। कितनी गंभीरता आ जाती है ! एक मृत्यु को दूर करने के लिए क्योंकि, सर्वथा अभाव करने की परिस्थिति तो है नहीं, यह पता है कि, मरना तो पड़ेगा ही ! परतुं अभी नहीं। (इसके बावजूद भी) जीव इसे दूर करने के लिए अभिप्राय में तो आकाश-पाताल एक करने के लिए तैयार है। तो यह तो वीतरागी विज्ञान है जिसमें अनंत काल के लिए अमर होने का उपाय है। अनंत जन्म मरण मिटाने का उपाय है, इसकी मुख्यता और गंभीरता इतनी हद तक, गणित की दृष्टि से भी गुणाकार करके आई है कभी ? अगर इतनी गंभीरता न आती हो तो सामान्य गणित भी नहीं आता ! अथवा समझो कितना घोर अज्ञान है !

विचित्र बात तो यह है कि, यह बात और यह विषय जिसको सुनने भी नहीं मिला उन्हें तो यह विचार भी नहीं आएगा कि, एक मरण से क्या परंतु अनंत मरण से बच सके ऐसा जगत में उपाय भी है !! वीतराग के मार्ग में यह बात है। परंतु जिन्हें

यह बात समझने मिली है उन्हें भी अगर इसका मूल्याकांन नहीं आएगा तो उनकी Praiority नहीं बदलेगी। उदय के कार्यों की मुख्यता छूटेगी नहीं और आत्म कल्याण की गौणता हमेंशा हमेंशा रहा ही करेगी। यह तो परिस्थिति है वह जीव को कभी आत्म कल्याण नहीं करने देगी।

इसलिए यहाँ पर `कृपालुदेव' ने यह बात साथ में ली है कि, उस मार्ग को गवेषणा हेतु जो तत्पर हुए उन्होंने इस मार्ग को खोजा इतना तो नहीं, जाना इतना ही नहीं। खोजकर जाना इतना ही नहीं। परंतु साथ-साथ में `**प्रतीति कर,...**' (मतलब) विश्वास आया, इसका मूल्य आया, मूल्यांकन हुआ। और तभी ही वास्तविक मुख्यता होती है।

`**उसका यथायोग्य आराधन कर,...**' और जहाँ जाना और विश्वास आया तो वहाँ उसका अमलीकरण होने का उत्साह स्वतः उत्पन्न होता है। समझन होने पर भी यदि उसका अमल नहीं हुआ तो सामान्य बुद्धि वाले इस विषय में प्रवेश नहीं करने वाले लोगों को भी यह खयाल आता है कि, `यहाँ तो सिर्फ (सिर्फ) बातें होती है !' बातें करने से कुछ फायदा नहीं होता। `आप इनका आचरण करतें हैं कि नहीं ?' ऐसा सीधा प्रश्न करेंगे। परंतु जिन्हें यह मार्ग समझ में आता है, विश्वास आता है उन्हें उसका अमल करने का Initiative आए बिना रहता नहीं। तत्काल ! उसका अमल करने के लिए परिणाम चालू हो जाता है। `**उसका यथायोग्य आराधन कर,...**' यनी कि जिस स्तर में - जिस Stage में जिस प्रकार से इसका अमल हो सके उतनी मात्रा में, उतने अंश में, उतनी हद तक उसका अमल करता है वह उसका यथायोग्य आराधन है। सिर्फ `आराधन' इतना शब्द नहीं लिया।

(इस तरह) यथा योग्य आराधन करके, `**अव्याबाध सुखस्वरूप आत्मा के सहज शुद्ध स्वभावरूप परम पद में लीन हुआ।**' क्या निष्कर्श निकला ? कि, जब यह आराधन हुआ तब खुद के परम पद में - निज परम पद में वे लीन हुए, एकाग्र हुए, स्वरूप में समागए। कैसा है आत्म स्वरूप ? कि, अव्याबाध सुख स्वरूप है। आत्म स्वरूप है उसमें अनंत अनंत सुख भरा है और वह सुख ऐसा है कि, जिसे जगत के कोई पदार्थ द्वारा बाधा नहीं पहुचा सकते ! इस बात का विश्वास आना यह बड़ी बात है। समझने मिला यह बड़ी बात नहीं। विश्वास आना यह बड़ी बात है।

जैसे घर में सम्पत्ति हो तो उसके अवलंबन और आधार से मनुष्य को किसी के प्रति दीनता के परिणाम नहीं होते। जिसके घर में सम्पत्ति है वह किसी के पास दीनता नहीं करता। तो (है) इसका विश्वास है। `है' इसका (विश्वास है)। परिणाम में क्या है ? परिणाम में तो `है' इसका विश्वास है, इसके अस्तित्व का विश्वास है। तो फिर यहाँ जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि, तुम्हारे प्रदेश-प्रदेश में अनंत अव्याबाध सुख भरा है। आत्मा के सर्व प्रदेश में - एक-एक प्रदेश में अनंत अव्याबाध सुख भरा है इसका विश्वास है ? अगर इसका विश्वास होगा तो आत्मा के सिवा अन्यत्र - कहीं से भी सुख प्राप्तिरूप दीनता के परिणाम है वह गए बिना रहेंगे नहीं। वैसी दीनता होगी ही नहीं।

जैसे धनवान मनुष्य को भीख माँगने का विकल्प भी नहीं आता है। आता है क्या ? कि, `कल हमें भीख माँगने जाना पड़ेगा तो !' ऐसा विकल्प भी उसे नहीं आता। इतने पुण्य परिणाम भोगने की योग्यता वर्तती है कि, ऐसा विकल्प भी उसे नहीं आता। चक्रवर्ती हो उसे भीख माँगने का विकल्प आता है क्या ? (तो कहते हैं

कि) नहीं आता। क्यों ? (क्योंकि) उसे अपनी सम्पत्ति का भान है। वैसे ही आत्मा में अनंत सुख भरा है, इसका विश्वास आना यह बहुत बड़ी बात है। जानने तो मिला, जानना-समझनाा तो मिला (परंतु) विश्वास है क्या ? यदि विश्वास होगा तो कहीं और से सुख लेने के परिणाम नहीं चलेंगे। नहीं आने का कारण भी यह है कि, और कहीं भी खुद का सुख दिखे ऐसी कोई परिस्थिति भी नहीं है। जिसको दिखता है वह भ्रम है। वास्तविकरूप से वहाँ कुछ है नहीं। सुख की गंध भी नहीं, सुख की परछाई भी नहीं है। ऐसे जो पुद्गला परमाणुओं की अवस्था कि जहाँ भाँतिगतरूप से सुख भासित हो रहा है और ऐसे भास्यमान होते हुए सुख की मिठास जिसको है उसको आत्मस्वरूप का निश्चय कभी नहीं हो सकता।

यह विषय बहुत अच्छी तरह पत्रांक-३३१ में आया है। (लिखते हैं) `**भ्रांतिवश सुखस्वरूप भासमान होते हैं ऐसे इन संसारी प्रसंगों एवं,...**' अनेक प्रकार के संयोग (उनमें) `**जब तक जीव को प्रीति रहती है,...**' उन प्रकारों में और प्रसंगों में। `**तब तक जीव को अपने स्वरूप का भास होना असंभव है,...**' तब तक खुद की अव्याबाध अनंत सुख स्वरूप ! अनंत सुखधाम ! यह भास्यमान होना असंभवित है। इस भ्रांति वश समझने मिलेगा तो भी `भासित' नहीं होगा। समझना एक बात है (और) अपने में अपना ऐसा स्वरूप भास्यमान होना वह दूसरी बात है। (इस परिस्थिति में) जीव को अपना स्वरूप तो नहीं भासित होता परंतु ऐसी भ्रांति में रहे जीव को `**सत्संग का महात्म्य भी तथारूपता से भासमान होना असंभव है।**' (बाहर में सुख लगता है ऐसे जीव को) सत्संग का महत्त्व नहीं आता, सत्संग का माहत्म्य भासित नहीं होता। वह सत्संग को गौण कर

लेगा, मुख्य नहीं कर सकेगा।

अतः `जब तक यह संसारगत प्रीति असंसारगत प्रीति को प्राप्त न हो,...' मतलब कि परिभ्रमण करने वाले परिणामों में जिसको मिठास आती है उसको जब तक मुक्त होने के परिणामों में मिठास न लगे तब तक इस जीव को `**अवश्य ही,...**' (मतलब) अवश्य करके `**अप्रमत्तभाव से,...**' मतलब जाग्रत रह कर। `**वारंवार पुरुषार्थ को स्वीकार करना योग्य है।**' (मतलब) उसे जाग्रत होने का पुरुषार्थ कर्तव्य है। `यह बात त्रिकाल में विसंवाद रहित जानकर निष्काम भाव से लिखी है।' `सोभागभाई' पर लिख हुआ पत्र है। (कहते हैं कि) इस बात को निर्विवाद जानें, इसमें तर्क उठाने की गुंजाइश नहीं है, शंका करने की गुंजाइश नहीं है। और हमने जो लिखा है यह तो निस्पृह भाव से - निष्काम भाव से लिखा है। किसी प्रकार की इच्छा से नहीं लिखा।

यहाँ (चलते विषय में कहते हैं कि), इस (सन्मार्ग की) प्रतीति और इसके आराधन से अव्याबाध सुखस्वरूप ऐसा आत्मा का जो अनादि-अनंत सहज स्वरूप है, सनातन सहज स्वरूप है, ऐसे सहज शुद्ध स्वभाव रूप अपना ही परम पद है, इस परमपद में लीनता की प्राप्ति होती है। सहज भाव से लीनता होती है। सहज स्वरूप में सहज भाव से लीनता होती है। अगर इस स्वरूप को जानकर, प्रतीति करके इसका आराधन किया जाए तो।

इतना कहने के बाद एक विशेष बात इसी विषय में करते हैं। थोड़ा आश्चर्यकारी विषय है !! `**साता-असाता का उदय अथवा अनुभव प्राप्त होने के मूल कारणों की गवेषणा करने वाले उन महान पुरुषों को ऐसी विलक्षण सानंदाश्चर्यकारी वृत्ति अद्‌भुत होती थी,...**' देखो ! `**कि साता की अपेक्षा असाता का उदय प्राप्त होने**

पर और उसमें भी तीव्रता से उस उदय के प्राप्त होने पर उनका वीर्य विशेषरूप से जाग्रत होता था, उल्लसित होता था, और वह समय अधिकता से कल्याणकारी माना जाता था।' यह एक बहुत आश्चर्य कारक ऐसी बात है ! जगत के सभी प्राणी असाता के दुःख के अनुभव से घबराते हैं। घबराहट छूटती है ! शरीर में कहीं गाँठ निकली हो... अचानक दिखे और डॉकटर ऐसा कह दे कि, `लैबोरेट्री टेस्ट करके मैलिग्नैन्सी है कि नहीं जरा पता कर लेना !' तुरंत ही इसका उपाय हो तो अच्छा है, देर होना अच्छा नहीं।' अभी तो टैस्ट करने की बात आये तो भी कितनी घबराहट होती है ! हाथ पैर कापने लगे !! यह कैन्सर होस्पिटल में टैस्ट करवाने को क्यों ले जाते होंगे ? (डॉकटर ऐसा कहे कि) `वहाँ जाकर टैस्ट करा लो ! इस रोग को समझने के सबसे अच्छे साधन वहाँ उपलब्ध हैं।' (यह सुनकर) होस्पिटल में जाने में कितना उत्साह आएगा ? टैस्ट करवाने में भी जीव को घबराहट हो जाती है !!

यहाँ इससे एक उलटी बात ली है, (ऊपर कही वह) संसारी जीव की एक सामान्य परिस्थिति है। यहाँ एक आश्चर्यकारक ऐसी अलग ही बात की है कि, साता से भी जब असाता का उदय हो, उदय आ जाये, असाता का दुःख अनुभव में आए और यह अनुभव प्राप्त (होने पर ऐसा लगे कि) `यह दुःख कैसे उत्पन्न हुआ ? मुझे क्यों ऐसा रोग हुआ ? दूसरों को नहीं और मुझे ही क्यों हुआ ?' यह एक प्रश्न होता है। क्योंकि इसी हाँड़ी में से घर के दूसरे लोग भी खाते हैं। एक ही रसोई में खाने वाले लोगों में, एक को रोग हो और एक को निरोगता हो ! (इसके) मूल कारण को जब तपासने जाते हैं, ऐसे महापुरुष (जो) इसके मूल

कारण की खोज करने गए। ऐसे पुरुषों को एक अलग ही प्रकार की - विलक्षण मतलब एकदम अलग ही जात की ! जगत के जीवों की अपेक्षा एकदम अलग प्रकार की `**सानंदाश्चर्यकारी वृत्ति उद्‌भुत होती थी,...**' कि, अरे...! इस कारण को खोजने के लिए तो दरअसल ऐसा उदय आए तभी इसके कारण को खोजना चाहिए कि ऐसा कैसे हुआ ? ऐसा क्यों हुआ ? यह क्या चीज़ है ? वास्तव में ही यह दुःख दायक है कि दुःख दायक है यह मेरी भ्रांति और कल्पना है ? यह एक समझने जैसा विषय है। जीव को शरीर में ममत्व हुआ उसका दुःख है।

ज्ञानीपुरुष ऐसा कहते हैं कि, दरअसल शरीर की असाता का जीव को दुःख नहीं है। वास्तव में शरीर की पीड़ा और असाता का जीव को दुःख नहीं है। क्योंकि वह शरीर की पर्याय है, वह जीव की पर्याय नहीं। जीव की पर्याय का दुःख जीव को है। असाता की पीड़ा का दुःख जीव को नहीं। वस्तुस्थिति तो ऐसी है। परंतु `यह पीड़ा और यह शरीर मेरा है, मुझे हुआ है' ऐसी जो जीव की पर्याय है वह दुःख दायक है, वह दुःख को उत्पन्न करती है। परंतु इसकी भिन्नता का अनुभव ज्ञान जब तक उत्पन्न नहीं होता तब तक जीव को शारीरिक पीड़ा का आत्मा में वेदन होता है, आत्मा में नहीं होते हुए भी ! देह पद में जीव की भ्रांति होती है। देह पद में जीव पद मालूम होता है। परंतु वास्तव में देह में जीव नहीं है। अभी भी देह में जीव नहीं है, जीव जीव में है और शरीर शरीर में है। शरीर की अवस्था शरीर को होती है और जीव की अवस्था जीव को होती है। परंतु इन दोनों की भिन्नता के अज्ञान वश और इन दोनों की अभिन्नता का जिसे ज्ञान तो क्या कहें परंतु भ्रांति कहनी होगी, क्योंकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं

है, ऐसे अध्यासित परिणाम होने के कारण जीव को इसका दुःख होता है।

विचारने योग्य विषय यह है कि, जब कोई भी व्यक्ति को शरीर की पीड़ा हो तब वहाँ से उपयोग छुड़ाना मुश्किल पड़ता है। जगत में दूसरे-दूसरे प्रकार से अनेक दुःख हैं। इन दुःखों को भुलाने के लिए लौकिक में भी लोगों ने बहुत-सी युक्ति-प्रयुक्ति बना ली है। एक दृष्टांत लें कि, किसी के घर में मृत्यु होती है तब सभी शोक में डूब जाते हैं कि, `अरे...रे...! फलाना-फलाना अपने बीचमें से चले गए।' इनका मरण हो गया, वे मर गये ये शब्द ही दुःख दायक हैं। तो भी तेरहवें दिन, तेरहवें के दिन इसे भूलने के लिए सभी संबंधी साथ में मिलकर मिष्टान खाते हैं ! क्या करते हैं? लौकिक में लोगों ने क्यों ऐसा रिवाज रखा ? (कि) दुःख को भुलाने के लिए ! तेरहवें के दिन मिष्टान्न खाया मतलब इसके बाद कभी भी मिष्टान्न खाने में भी हर्जा नहीं और इस दुःख को भूलने में भी हर्जा नहीं। क्योंकि इसमें से जीव को सुख प्राप्त होता है। (इस तरह) मृत्यु के दुःख को भुलाने के लिए भी युक्ति प्रयुक्ति है। दूसरे दुःखों को भुलाने के भी अनेक उपाय हैं। `दुःखना ओसड़ दाड़ा।' (दुःख की मर्यादा भी कुछ दिन तक है) ऐसी कहावत हो गई। परंतु (शारीरिक) पीड़ा उठी हो तब वहाँ से उपयोग छुड़ा नहीं पाते। और जीव को सहन करना ही पड़ता है - भोगना ही पड़ता है।

ऐसी एक अनिवार्य दुःख भोगने की परिस्थिति का उपाय यानी कि ऐसी परिस्थिति में भी दुःख नहीं भोगना हो तो क्या करना चाहिए ? इसका उपाय महान पुरुषों ने खोजा है। और जब यह उपाय उन्होंने खोजा तब एक विचित्र वृत्ति - विलक्षण वृत्ति उनको

उत्पन्न हुई कि, अरे...! साता के बजाय असाता का उदय प्राप्त हो और उसमें भी खास करके तीव्रता से असाता का उदय प्राप्त हो, तब उनका वीर्य नाम पुरुषार्थ विशेष रूप से जाग्रत होने लगा। कि असाता के उदय से आत्मार्थी जीव या ज्ञानीपुरुष कभी नहीं घबराते। इसलिए नहीं घबराते कि, यह एक ऐसा उदय प्रसंग है कि, जहाँ देह से आत्मा की भिन्नता का प्रयोग करने की प्रयोग शाला संप्राप्त होती है ! प्रयोग तो प्रयोगशाल में ही हो सकता है न ? प्रयोगशाला न हो तो प्रयोग कहाँ जाकर करें ? तो कहते (हैं) कि, यह असाता आई तो बहुत अच्छा हुआ ! आने दो न ! जितने ज़ोर से आए उतने ज़ोर से आने दो !! इस बार मैं देह से भिन्नता का यथार्थ प्रयोग मेरे पुरुषार्थ को उठाकर करना चाहता हूँ।

इसलिए सत्शास्त्रों में तो मृत्यु के समय जो तीव्र असाता होती है, इस तीव्र असाता के मृत्यु के प्रसंग को `मृत्यु महोत्सव' कहा गया है ! महोत्सव के वक्त सुखी होती है न ? उत्सव में तो यह खुशी का दिन है। यह जन्मोत्सव ले लो ! कल अपने उत्सव का दिन है, `कृपालुदेव' के जन्मोत्सव का दिन यह खुशी का दिन है। ज्ञानियों को तो मृत्यु भी महोत्सव का दिन है। क्योंकि उस वक्त वेदना बढ़ती है। प्राण छूटते वक्त किसी भी जीव को असाता (की) वेदना का तीव्र उदय आता है। और ज्ञानी पुरुष तो उस वक्त विशेष पुरुषार्थ करते हैं। कुछ एक ज्ञानी तो ऐसे हैं कि, मृत्यु के समय जब तीव्र असाता का उदय हो तब निर्विकल्प दशा में देह त्याग करते हैं !! कितना पुरुषार्थ करते हैं ? (कि), सविकल्प दशा का उल्लंघन करके निर्विकल्प दशा में आकर देह त्याग कते हैं। इतना पुरुषार्थ अंदर से उछालते हैं ! और उस वक्त ढ़ेर

सारी कर्म की निर्जरा होती है। कितनी निर्जरा होती है ? असाता में यदि (और उसमें भी) तीव्र असाता में यदि आत्मिक पुरुशषार्थ प्रगट करने में आए, आत्मिक पुरुषार्थ विशेषरूप से जाग्रत हो, क्योंकि यह एक सहज योग्यता का विषय है, तो उस वक्त निर्जरा भी सबसे अधिक होती है। जैसे Season में कमाई सबसे ज्यादा होती है (वैसे यहाँ) सबसे ज्यादा कमाई का अवसर यह (मृत्यु का) प्रसंग है। और इसीलिए इसे `महोत्सव' ऐसा नाम दिया जाता है।

यहाँ भी ऐसी ही कोई बात `कृपालुदेव' ने पेश की है। `**साता की अपेक्षा असाता का उदय के प्राप्त होने पर उनका वीर्य विशेष रूप से जाग्रत होता था,...**' करना पडो ऐसे नहीं, उनका पुरुषार्थ तीव्ररूप से जाग्रत हो जाता। यह जिन्होंने दुःख से छूटने का उपाय खोजा उन्होंने दुःख के समय ही दुःख टालने का पुरुषार्थ किया है। क्या बात ली है ? कि ऐसा दुःख न आए तब मैं इसका मार्ग खोडकर पुरुषार्थ करूँ, ऐसे नहीं। ऐसी पीड़ा के काल में ही मैं इसका प्रयोग करके इस पीड़ा के काल में ही मैं पीड़ा से भिन्न हो जाऊँ। तर्क से समझ में न आए ऐसा विषय है। क्योंकि एकदम अनुभव का विषय है। इसमें तर्क काम में नहीं आता, अनुमान काम में नहीं आता, बुद्धि की पहुँच नहीं है कि, ऐसा कैसे होता होगा ? परंतु (यह) एक अध्यात्मरस का बहुत रसिक विषय है।

ज्ञानीपुरुष शरीर की असाता वेदना की पीड़ा के वक्त सुखी होते-होते, दुःखी होते-होते नहीं, परंतु सुखी होते-होते इस पीड़ा को भिन्न रहकर मात्र जानते हैं !! उसे ज्ञान के भिन्न ज्ञेयरूप जानते हैं कि, पीड़ा कितनी चल रही है ? शरीर की पीड़ा शरीर में कितनी हो रही है इसका ज्ञान होता है। इसका दुःख नहीं होता परंतु खुद की भिन्नता में उस वक्त सुख होता है। आत्मामें

से उत्पन्न हुआ वह आत्मिक सुख है। ऐसी शारीरिक असाता की वेदना की प्रतिकूलता (का) भी जिसको दुःख नहीं, मृत्यु का प्रसंग भी जिसको दुःखदायी नहीं, उसे जगत में दूसरे कौन-से संयोग-वियोग दुःखरूप हो सकते हैं ? कि, इन्हें तो किसी भी प्रसंग का दुःख होने का प्रश्न ही नहीं। ऐसा उपाय जो विचारवान पुरुषों ने खोडा उन्हें यहाँ `महत् पुरुष, महान पुरुष' कहा गया है। यह इनकी महानता है !!

(कहते हैं) उनका पुरुषार्थ विशेषरूप से सहज जाग्रत होता था, करना नहीं पड़ता था। एक तरफ ज्यों-ज्यों असाता तीव्र होती चले त्यों-त्यों यहाँ भीतर में पुरुषार्थ भी तीव्र होता जाए। बहुत स्वाभाविक है। योग्यता में ऐसा होना बहुत ही स्वाभाविक है। जैसे किसी को पता चले कि, तूफान आनेवाला है और हम कोई ऐसी जगह चल रहे हैं कि, अगर पाँव जरा-सा भी आगे-पीछे हो गया (तो गिर जाएँगे)। जैसे किसी पहाड़ी (की) पगदंडी पर चलते हों तो खाई में गिर सकते हैं। तो इस वक्त जो भी पकड़ने का साधन मिले - कोई पेड़ मिले, कोई खंभा मिले, कोई पत्थस मिले, शिला मिले तो सहज रूप से उसे ज़ोर से पकड़ ले, यह कोई सिखाना पड़ता है ? बालक को भी सिखाना नहीं पड़ता। पाँच साल का बालक बजार में माता के साथ चलता हो (तब) साड़ी का पल्ला (पकड़ कर) चलेगा। ऐसे में यदि भीड़ बढ़ जाए, भीड़ ! (तो) मजबूती से पकड़ लेगा कि, कहीं मुझे किसी का धक्का लग गया और मैं बिछड़ गया तो मैं रगे जाऊँगा। बालक को भी सहजरूप से पकड़ आती है कि, `मैं ज़ोर से साड़ी का पल्ला पकड़े रखूँ। ' इसतरह जिसे अंतर पुरुषार्थ की गति और सूझ आ गई है उसका बाहर के प्रतिकूलता के प्रसंगों में पुरुषार्थ सहजरूप से वृद्धिगत

होने लगता है।

प्रतिकूलता है वह परिणाम को विचलित करें ऐसे प्रसंग है। असाता और दूसरे प्रतिकूल प्रसंग परिणाम को विचलित करें, ऐसे प्रसंग हैं। ऐसे प्रसंगों का खयाल आते ही योग्यतावान आत्मार्थी मुमुक्षु जीव हो अथवा ज्ञानीपुरुष हो वे विशेष पुरुषार्थ प्रगट करके वीर्योल्लास में आकर उस काल को अपने आत्मकल्याण का, अधिक आत्मकल्याण होने का प्रसंग समझते हैं। इससे दुःखी नहीं होते, ऐसे प्रसंग नहीं आए वैसी अनिच्छा को वे प्रगट नहीं करते, ऐसी अनिच्छा नहीं करते। और तो और ऐसा समय उन्हें अधिक कल्याणकारी समझ में आया ! इस प्रकार जिनको दुःख से मुक्त होना है ऐसे विचारवान जीवों ने दुःख के प्रसंगों का स्वागत किया है बल्कि दुःख के प्रसंगों से ड़र कर वे भाग नहीं गए।

(अब कहते हैं) `**कितने ही कारण विशेष के योग से व्यवहार दृष्टि से ग्रहण करने योग्य औषध आदि आत्म-मर्यादा में में रहकर ग्रहण करते थे; परंतु मुख्यतः वे परम उपशम की ही सर्वोत्कृष्ट औषधरूप से उपासना करते थे।**' एक विशेष स्पष्टीकरण आया है कि, ज्ञानीपुरुष भी दवाई-औषध लेते हैं तो वे कैसे लेते होंगे ? क्यों लेते होंगे ? किस परिस्थिति में लेते होंगे ? इसका स्पष्टीकरण दिया है। क्योंकि ऐसी बात आती है तब कुछ एक लोगों को शंका उठती है कि, हमने तो बड़े-बड़े महान ज्ञानियों को दवाई लेते देखा है ! औषधि खाते हुए और शरीर की असाता का उपचार करते हुए देखा है (तो) ये कैसे कहते होंगे ? कैसे करते होंगे ? अंदर की परिस्थिति को स्पष्ट करता हुआ यह स्पष्टीकरण है।

`**कितने ही कारण विशेष के योग से,...**' कारणविशेष ऐसे होते हैं कि, उन्हें अपनी देह पर ममत्व नहीं होता। परंतु उनकी देह

पर दूसरों को ममत्व होता है। एक तो उनके कुटुंब के सदस्य और दूसरे उनके भक्त जन ! जो देह की तंदुरस्ती के कारण इनके निमित्त से उनकी वाणी आदि का आत्म लाभ लेने की चाहत रखते हैं। ऐसे कितने ही कारण विशेष के योग से... योग मतलब ऐसे संयोग। `**व्यवहार से ग्रहण करने योग्य औषधि आदि,...**' जो औषधि व्यवहार दृष्टि से ग्रहण करने योग्य हो, चाहे जैसा औषध नहीं ले लेते। इन्हें (कोई) ऐसा कहे कि, `आप कंद मूल ले लीजिए !' तो नहीं लेंगे। `यह फलाने प्राणीमें से बनी हुई फलानी औषधि है।' तो कहेंगे `यह नहीं ले सकते।' (यह) व्यवहार दृष्टि से करने योग्य निर्दोष औषध `**आत्म मर्यादा में रहकर,...**' किसमें (रहकर) ? आत्मा के स्वभाव में रहने की इतनी मर्यादा है। उस स्वभाव भाव को छोड़कर केवल विभाव भाव में - राग में आकर भी वे औषध ग्रहण नहीं करते। ऐसी आत्म मर्यादा में रहकर वे (औषधादि) `**ग्रहण करते थे,...**'

`**परंतु मुख्यतः वे परम उपशम की ही सर्वोत्कृष्ट औषधरूप से उपासना करते थे।**' और उस काल में भी - उस वक्त भी खुद के स्वरूप में विशेषरूप से पुरुषार्थ से शांत होना - उपशण होना यही खुद के आत्मा की तंदुरस्ती का सर्वोत्कृष्ट औषध है। इसकी उपासना करते-करते उपासते-उपासते उस औषधादि का ग्रहण उपरोक्त मर्यादा में लेते हो तब उसे दोष गिनकर अन्याय नहीं करना चाहिए ! इतनी बात का स्पष्टीकरण यहाँ दे दिया है। क्योंकि ज्ञानी भी कभी उपचार करते हैं ऐसा बाहर से देखा जाता है। वह (उपदेश) `वनमालीदासभाई' जैसे सुपात्र मुमुक्षु जीव को असाता का उदय आया है तब प्रासंगिक उपदेशि दिया है जो किसी भी मुमुक्षु जीव के लिए अत्यंत अत्यंत प्रेरणादायक है। ऐसा विषय यहाँ

लिया है।

अब आगे के शेष अंश में जो स्वरूप प्राप्ति की विधि है इस विधि का बहुत सूक्ष्म निरूपण किया है। यह कल सुबर के स्वाध्याय में लेंगे, समय पूरा हुआ है।

प्रवचन - २ दि. १८-११-१९९४
पत्रांक-९१३, (स्थल-घाटकोपर)

अब हम आज का स्वाध्याय उनके ही वचनामृत द्वारा (शरू करें)। पत्र का विषय चला है - असाता वेदनी का। असाता वेदनी का एक ऐसा उदय है कि, किसी भी जीव को यह पीड़ा चाहे जितनी अनिच्छा हो तो भी भोगनी ही पड़ती है। उपयोग वहाँ से छुड़ा नहीं सकता और इच्छा न हो तो भी (पीड़ा भोगनी ही पड़ती है)। इस पीड़ा से निवृत्त होने का उपाय जो धर्मात्माओं ने और महापुरुषों ने गवेषणा करके प्राप्त किया, यह उपाय कैसा है ? यह उपाय क्या है ? ऐसी परिस्थिति में भी वे किस तरह पुरुषार्थवंत रहते थे ? इस पुरुषार्थ और इस परिणमन का चित्र - शब्द चित्र भाव चित्र कैसा है, इस विषय को अब पत्र के आगे के पैराग्राफ में उन्होंने निरूपण किया है।

क्या कहते हैं ? कि, `**उपयोग-लक्षण से सनातन-स्फुरित ऐसे आत्मा को देह से, तैजस और कार्मण शरीर से भी भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि सिद्ध करके, वह चैतन्यात्मकस्वभाव आत्मा निरंतर वेदक स्वभाववाला होने से अबंध दशा को जब तक संप्राप्त न हो तब तक साता-असाता रूप अनुभव का वेदन किये बिना रहने वाला नहीं है यह निश्चय करके,...**' वचनामृत तो बहुत लंबा है।

यहाँ एक अल्पविराम है, क्या कहना है ? कि, जीव का एक चैतन्यस्वभाव - वेदक स्वभावरूप वेदकस्वभाव है। (अर्थात्) वेदन करना यह उसका स्वभाव है। अगर जीव अपने आत्म स्वभाव को नहीं वेदता है तो जीव साता-असाता का वेदन किये बिना नहीं रह सकता। यह एक वेदन की अनिवार्य परिस्थिति है। मतलब कि या तो जीव अपने निज स्वरूप का वेदन करेगा, वेदन करना मतलब अनुभव करना या तो फिर परपदार्थ के अवलंबन से आकुलता का - अशांति का वेदन करेगा। मुख्यरूप से जीव अशांति को ही वेदता है। क्योंकि जितना उपयोग बाहर खींचता है वह आकुलता का जन्म लेकर ही उपयोग बाहर की ओर खींचता है। उपयोग का बाहर खींचना, इसमें आकुलता उत्पन्न होना सहज है।

जब यह एक अनिवार्य परिस्थिति है, (तब) इस पत्र में इस विषय का निरूपण इसलिए हुआ है कि, वेदन का विषय जब सामने आया है; `वनमालीदासभाई' कोई शारीरिक असाता के उदय में आ गए हैं, फिर भी `कृपालुदेव' के योग की वज़ह से उदय को कुछ साता से वेदते हैं। तो इस विष्य में अलौकिक परिणमन कैसे उत्पन्न हो ? और ऐसी वेदना के काल में वेदना होने पर भी जीव इस वेदना को न भोगे - न वेदे बल्कि आत्मशांति को वेदे, ऐसा जब कोई उपाय है तो यह उपाय कैसा है। कहना होगा कि, इस पैराग्राफ में जिस विषय (का) निरूपण हुआ है, यह एक अध्यात्म का गंभीर रहस्य है ! यदि इस प्रकार में जीव आ सके तो वेदना होते हुए भी वेदना से मुक्त हो सकता है !!

जो वेदना पैसे से नहीं मिटा सकते, जो वेदना औषध द्वारा भी नहीं मिटा सकते, जिस वेदना को कोई डॉकटर नहीं मिटा सकता, परिवार वाले भी जिस वेदना का आंशिक हिस्सा नहीं ले

सकते, इसमें Participate नहीं कर सकते, ऐसी तीव्र से तीव्रतम वेदना हो तो भी आत्मशांति का वेदन कर सकें और ऐसी वेदना से मुक्त हो सकते हों तो उस साधन की, ऐसे परिणमन की कीमत कितनी ?

एक करोड़पति, अबजपति व्यक्ति को पूछा जाए कि, तुम्हें वेदना हो तब तुम्हारी संपत्ति क्या इस वेदना को मिटाती है यह बताओ तुम्हारी कौनसी संपत्ति इस वेदना को मिटाने में समर्थ है ? Painkiler Fail जाती है ! ऐसी वेदना होती है, कि कोई असर न करे ! परिवार वाले सभी इकट्ठे होकर भी इस वेदना को देख न सकें ऐसी वेदना हो ! ऐसी वेदना से भी अगर मुक्त हुआ जा सकता हो तो ऐसे साधन - ऐसे परिणाम का मूल्य कितना ? (तो कहते हैं कि) उसका मूल्य किसी भी Term में नहीं कर सकते !! हो तो बताओ ! उसे किसमें तोलें ? उसका मूल्यांकन किस तरह करना ? No terminology ! इसकी कोई Terminology नहीं है कि इसमें इसका मूल्यांकन हो सके ! ऐसा एक विषय - गंभीर विषय यहाँ पर `कृपालुदेव' ने निरूपित किया है। क्या कहते हैं ?

आत्मा है वह निरंतर वेदक स्वभाव वाला है ! चैतन्यात्मक पदार्थ होने की वज़ह से वह निरंतर वेदक स्वभाववाला है। और जब तक पर पदार्थ के साथ उसकी प्रतिबिंब दशा है तब तक वह असाता को - आकुलता को और अशांति का वेदन किए बिना नहीं रह सकता। परंतु यदि वह अबंध दशा क प्राप्त करे मतलब पर पदार्थ के साथ की प्रतिबंध दशा छूटकर स्वरूप के अनुसंधान में यह दशा आए, कि जिस आत्मस्वरूप में अनंत-अनंत परम शांति रही है। `पर शांति अनंत सुधामय जे' हम लोग हमेशा स्वाध्याय

के बाद जो पद गाते हैं। `पर' मतलब परम शांति है। कैसी शांति है ? कि, अमृत जैसी शांति है ! कितनी शांति है ? कि, अनंत शांति है !! ऐसा जो चैतन्यस्वभावी आत्मा इसमें परिणाम अनुसंधान को प्राप्त करें, और अनुसंधान प्राप्त करे तो वे अबंध दशा को संप्राप्त होते हैं। और जब तक ऐसा न हो तब तक दुःख को भोगना अनिवार्य है, इससे बच न सके ऐसी परिस्थिति है। यह किस तरह करना ?

उपयोग लक्षण से सनातन स्फुरित आत्मा को भिन्न करना। सब से भिन्न करना। देह से, तैजस और कार्मण शरीर से भी इसे भिन्न करना। किससे भिन्न करना ? (तो कहते हैं, कि) उपयोग लक्षण से भिन्न करना। अनेक व्यक्ति में एक व्यक्ति को अलग से पहचानना हो तो उसका Specific - खास लक्षण खयाल में होना चाहिए। तब तो उसे अलग (पहचान सकेंगे) कि, `यह फलाना व्यक्ति (है) ! सौ व्यक्तियों में यह व्यक्ति अलग है।' ऐसे इस विश्व में अनेक पदार्थ हैं। अनंत आत्माएँ हैं, अनंत परमाणु हैं, इन सब में आत्मा को अलग जानने के लिे अनादि-अनंत एक ही लक्षण है और वह `उपयोग' लक्षण है।

जीव का लक्षण उपयोग है। इस विषय में भगवान `उमास्वामी'ने `तत्त्वार्थसूत्र' में (कहा है)। `उपयोग लक्षणम्' `सत्द्रव्यम् लक्षणम्' द्रव्य का लक्षण सत् - अस्तित्व है। जब कि, जीव जो सत् है उसका लक्षण उपयोग है। इस उपयोग द्वारा जो सनातन प्रगट है। स्फुरित है मतलब सदा ही प्रगट है। सदा ही जिसकी ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित है, जाज्वल्यमानरूप से प्रज्वलित है। ऐसे आत्मा को देहादि जड़ पदार्थ से और रागादि चैतन्य के आभास से; आगे लेंगे, भिन्न अवलोकन की दृष्टि को साध्य करें तो भिन्न अवलोकन में आता

है। भिन्न है उसका भिन्न अवलोकन करना है, अभिन्न है उसका भिन्न अवलोकन करना है, ऐसा नहीं है। दूध में पानी मिलते हैं तो भी आदमी को पता चल जाता है कि, यह पानी वाला दूध है। पता नहीं चलता क्या ? कि, यह दूध, दूध नहीं पानी वाला दूध है। दूध है वह पानी नहीं और पानी है वह दूध नहीं। मिलाव करके रखा हो तो भी जिसको नज़र होती है उसे दूध और पानी अलग अलग दिखाई देते हैं।

वैसे ही यहाँ जो देहाध्यास से खुद का देह स्वरूप अनुभव करता है, देहस्वरूप जानकर मान कर सारा व्यवहार और प्रवृत्ति करता है और देहाध्यास में चार गति में परिभ्रमण करने के परिणाम करके जीव अनंत काल से दुःखी हुआ है, ऐसे जीव को अपना स्वरूप समझने के लिए एक ही साधन है, एक ही लक्षण है और वह `उपयोग' लक्षण है।

`समयसार' आदि शास्त्र में यह विषय बहुत विस्तार से चला है। आचार्यों ने इस विषय को बहुत विस्तार से लिया है। परंतु ऐस शास्त्र `अधिकारी' होकर, ज्ञानीपुरुष के चरण सानिध्य में रहकर इसका अभ्यास करना चाहिए, अवगाहन करना चाहिए।

यह तो एक पैराग्राफ में बात की है तो भी वचन थोड़े समझने में कठिन पड़े ऐसे वचन हैं ! क्योंकि विषय इतना गंभीर है ! जब विषय कोई विशिष्ट प्रकार का हो तब भाषा भी कोई विशिष्ट प्रकार की सहज ही आती है !

`**उपयोग-लक्षण से सनातन-स्फुरित,...**' (अर्थात्) जैसे आत्मा को कोई स्फुरणा हो और इस स्फुरणा के परिणाम विशिष्ट प्रकार से समझ में आए, अनुभव में आए उस प्रकार से उपयोग को अनुभव करना चाहिए। फिर से, कोई बात की अचानक स्फुरणा हो कि,

जिस बात का मूल्य बहुत हो ! `अरे...! अगर इस बात की स्फुरणा नहीं हुई होती तो इतना बड़ा काम नहीं हुआ होता ! अथवा इतना बड़ा नुकसान हो जाता या इतना लाभ नहीं हुआ होता !' इसे `स्फुरणा' कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि, तेरा स्वरूप देख, भाई ! उपयोग लक्षण से सनातन मतलब निरंतर - तीनों काल और वर्तमान में भी यह स्फुरायमान हो रहा है ! उसे देहादि से भी भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि साध्य करनी चाहिए, तो असाता से और पीड़ा से दुःख से मुक्त हुआ जाएगा, ऐसा कहना है। वरना पीड़ा को भोगे बिना नहीं रह सकेगा। यह भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि किस तरह साध्य करनी ? इसकी जो कार्य पद्धति है, यह परिणमन का जो स्वरूप है इसे शास्त्रकारों ने `भेदज्ञान' कहा है। भिन्न पदार्थों को भिन्न करना, भिन्न करना मतलब अनुभव में भिन्न-भिन्न रूप से अनुभव करना, इस प्रकार का जो एक Process है - एक प्रक्रिया है, इसे `भेदज्ञान' ऐसा नाम दिया है।

अनुभव की जाँच की जाए तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि, ज्ञान, ज्ञानवेदन से सदा ही अभिन्न रहता है, अविभक्त रहता है और अन्यत्र कहीं भी - अन्य किसी भी पदार्थ को वेदन में नहीं ले सकता। आश्चर्यकारी बात यह है कि, कोई भी दूसरे पदार्थ की अवस्था को वेदन में लेने की - वेदन में भोगने का ज्ञान में कोई अवकाश नहीं है ! अनअवकाशरूप से ज्ञान, ज्ञान वेदन में निरंतर रहे ऐसा ज्ञान का स्वरूप है। ऐसे स्वरूप का उल्लंघन करके, ऐसे परिणमन का उल्लंघन करके अध्यासित परिणाम से जीव शरीर की साता-असाता और परपदार्थों का ठंड़ी -गरमी, कडुआ-तीखा, मीठा इत्यादि प्रकार से वेदन करता है, यह जीव का अध्यासित

परिणमन है। वस्तु के स्वरूप का अवलोकन करने पर ऐसा होना या ऐसा बनना असंभवित है। साता-असाता का वेदन नहीं कर सकता, ऐसा कहना है ! अशक्य है। ज्ञान वेदन को यदि अपने स्वभाव के रूप में अवलोकन में लिया जाए तो। यह बात स्पष्ट समझ में आए ऐसी है वरना यह बात किसी तरह समझ नहीं आ सकती।

अनादि से जीव को अध्यासित परिणाम इतने गाढ़-प्रगाढ़रूप से हो रहे हैं कि, जैसे यह पर में मैंने प्रवेश किया और परने मेरे में प्रवेश किया ऐसे `पर प्रवेशभाव' का अनुभव जीव को अति दृढ़ हो चुका है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं हो सकती। जड़ (और) चेतन का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, सदा ही भिन्न-भिन्न है। जड़ में चेतनपना होना अशक्य और असंभवित है और चेतन में जड़पना होना वह भी असंभवित और अशक्य है। तो अब यह असाता की पर्याय परमाणु की है या जीव की है ? इतना ही सोचने की आवश्यकता है। असाता की (जो) पर्याय है, क्योंकि यह असाता वेदनी तो उसकी अवस्था है न ? `असाता वेदनीय' नाम का कर्म है। कर्म जड़ है कि चेतन है ? कर्म जड़ है। अब यह वेदनी की पर्याय तो जड़ है। जड़ परमाणु की पर्याय जड़ परमाणु में समाप्त होती है। इससे बाहर के क्षेत्र में नहीं जा सकती।

कोई भी पदार्थ की पर्याय अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को नहीं छोड़ती। इसकी समाप्ति अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव में ही होती है। अपने स्वचतुष्टय से सजातीय पदार्थ भी जब भिन्न है तो विजातीय पदार्थ तो भिन्न है, यह साबित करने की भी जरूरत नहीं रहती। सजातीय मतलब एक जीव और दूसरा जीव, एक परमाणु और दूसरा परमाणु। वे भी भिन्न-भिन्न हैं। किसी एक का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में

मिल नहीं सकते। तो फिर परमाणु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तो आपस में मिल जाए ऐसा कभी नहीं हो सकता। परंतु जीव को भ्रांतिगत दशा में ऐसा मिथ्याभ्रम होता है। इसलिए इस भ्रम को मिथ्या कहना पड़ता है और ऐसे अनुभवज्ञान को भी मिथ्याज्ञान कहना पड़ता है। अगर ऐसी एक वस्तुस्थिति होती कि, `शरीर की असाता का जीव वेदन कर सकता हो' तो ऐसे ज्ञान को अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान नहीं कहना चाहिए परंतु वास्तविक ज्ञान कहना चाहिए - सच्चा ज्ञान कहना चाहिए। परंतु इसे ज्ञानियों ने भ्रम कहा है, इसे मिथ्या ज्ञान कहा है। देह में आत्मबुद्धि है तब तक ऐसा बनता है। आत्मा में आत्मबुद्धि हो तब ऐसा नहीं बन सकता। तब ज्ञान कोई भी अवस्था में प्रगटरूप से भिन्न अनुभवगोचर होता है। और इस ज्ञान का स्वरूप ही सुख है।

जैसे आदमी का कोई ना कोई प्रकार का रूप है ऐसे ज्ञान का - आत्मा का भी रूप है और इस ज्ञान का रूप है - सुख। ज्ञान सुखस्वरूपी है। मतलब ज्ञान और सुख अलग नहीं रहते। जैसे आदमी से आदमी का रूप अलग नहीं, वैसे ज्ञान और सुख कभी अलग नहीं रहते। जिस ज्ञान को `सुख' की मुहर छाप लगी हो वह ज्ञान आत्मा का सच्चा ज्ञान, जो ज्ञान आकुलता वाला हो वह ज्ञान नहीं, परंतु अज्ञान है।

दुःख ज्ञान की वजह से कभी नहीं होता। ज्ञान की वजह से दुःख नहीं होता। दुःख है वह अज्ञान के कारण होता है। और इसलिए जब-जब जीव को दुःख हो तब समझ लेना चाहिए कि, किसी न किसी प्रकार का अज्ञान वर्त रहा है। आकुलता हो, अशांति हो, दुःख हो तब जरूर यह देख लेना चाहिए कि, यह

जीव किस भ्रांति में कैसे अज्ञान से प्रवर्तने कर रहा है कि, इसे दुःख होता है ? ज्ञानी की वज़ह से कभी किसीको दुःख नहीं होता। क्योंकि ज्ञान खुद ही सुख से अभिन्न पदार्थ है। इसे भेदज्ञान द्वारा - भेदज्ञान द्वारा अर्थात् भेदज्ञान के प्रयोग के द्वारा भिन्न अवलोकन करने की, भिन्न अनुभव करने की दृष्टि साध्य करनी चाहिए। यह एक भेदज्ञान के प्रयोग की Practice करने की मुमुक्षु की भूमिका में एक परिस्थिति आनी चाहिए।

आत्मकल्याण की - परिभ्रमण को टालने की भावना से जो मुमुक्षुता उत्पन्न होती है और यह मुमुक्षुता जब वर्धमान होती है तब मुमुक्षु जीव कोई एक Stage (भूमिका में) भेदज्ञान के प्रयोग में प्रवेश करता है। और इस भेदज्ञान की जितनी Practice चलती है उतनी भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि साध्य होती है। तब तक इसके पहले जो भी वांचन, विचार, चिंतन, मनन (आदि के) परिणाम हैं ये सब प्रयोग से रहित परिणाम हैं और तब तक देह को आत्मा से भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि साध्य नहीं होती। साध्य होने के लिए Practice चाहिए। और कुछएक तो ज्ञान के प्रकार ही ऐसे हैं - खास करके जो Technical knowledge है यह सब इस प्रकार के हैं कि, किसकी समझ हो फिर इसका प्रयोगरूप अभ्यास चले तब जीव का हाथ बैठे। एक Art है - (एक) कला है और इसके लिए इसकी Practice होती है।

इस प्रकार ज्ञानी की (जो) ज्ञानदशा (है)ष इस ज्ञानदशा को शास्त्रकार ने वास्तव में `ज्ञान कला' कही है। `ज्ञान कला जिसके घट लागी, ते अंतरमां सहज वैरागी' `बनारसीदासजी' ने गाया है। यह ज्ञान की एक कला है कि, अन्य पदार्थ को जानने वाला ज्ञान पीड़ा और वेदना को जानने वाला ज्ञान पीड़ा और वेदना

का अनुभव करने वाला ज्ञान नहीं, (परंतु) जानने वाला ज्ञान, पीड़ा और वेदना के सद्भाव में भी भिन्न रहकर अपनी आत्म शांति का वेदन कर सकता है, अच्छी तरह वेदन कर सकता है। ऐसा संभव है और यह किस तरह संभव है ? इसका चितार इस पैराग्राफ में `कृपालुदेव' व्यक्त करते हैं।

`(**आत्मा को देह से, तैजस और कार्मण शरीर से भी**) **भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि सिद्ध करके, वह चैतन्यात्मक स्वभाव आत्मा निरंतर वेदक स्वभाववाला होने से अबंध दशा को जब तक संप्राप्त न हो तब तक साता-असातारूप अनुभव का वेदन किए बिना रहने वाला नहीं है यह निश्चय करके,...**' ऐसा निर्णय करके, यों कहना चाहते हैं। ऐसा एक पक्का निर्णय होना चाहिए कि, यही वस्तुस्थिति है। इसके सिवाय असाता से मुक्त नीहं हुआ जा सकेगा। भेदज्ञान किस तरह करना, यह अब खुद अपने शब्दों में कहते हैं।

`**जिस शुभाशुभ परिणामधारा की परिणति से वह साता-असाता का संबंध करता है उस धारा के प्रति उदासीन होकर,...**' क्या कहते हैं ? जीव को शुभाशुभराग के परिणाम की अपेक्षावृत्ति है और अपेक्षावृत्ति होने से उपेक्षा वृत्ति नहीं है । अपेक्षा वृत्ति और उपेक्षावृत्ति ये दोनों आपस में प्रतिपक्षरूप परिणाम हैं, विरुद्ध स्वभाव के परिणाम हैं। हमें विरुद्ध स्वभाव के परिणाम को समझने के लिए ऐसा कहते हैं कि उपेक्षा हो जब तो अपेक्षा छूटे, अपेक्षा छूटे तो उपेक्षा हो जाये। मतलब किस तरह प्रयोग करना यह बात करते हैं।

जिस शुभाशुभ परिणाम की धारा से जीव साता-असाता का संबंध करता है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार से परिणाम से (जीव

साता-असाता का संबंध करता है)। शुभ परिणाम से थोड़ी साता आती है यह भी आकुलता ही है, परमार्थ दृष्टि से वह भी आकुलता ही है। देह की साता का अनुभव देहाध्यास से होना यह भी परमार्थदृष्टि से आकुलता ही है। जबकि असाता का अनुभव करते हैं उसमें तो अशुभ परिणाम होते हैं। उसमें तो जीव के शुभ परिणाम नहीं होते परंतु अशुभ परिणाम होते हैं। इन दोनों - शुभ और अशुभ दोनों परिणाम की परिस्थिति द्वारा जीव साता-असाता का संबंध करता है। उसके प्रति उदासीन होना (अर्थात्) उसकी अपेक्षा छोड़ना। यह नास्ति से कथन कहा।

अस्ति से तो अपने ज्ञानस्वरूपी आत्मा की अपेक्षा करनी चाहिए अथवा ज्ञान में जो ज्ञानवेदन है वह ज्ञान की निर्विकल्प धारा है। ज्ञान में जो ज्ञानाकार दशा है, ज्ञेयाकार दशा को भी गौण करके जो ज्ञानाकार दशा है उसमें सर्व जीवों का ज्ञानवेदन विद्यमान है। कई बार यह प्रश्न होता है कि, आत्मा को कहाँ से पड़के ? यहाँ इसका उपाय बताते हैं।

देखो ! आज बड़ा दिन है, सामने विषय भी उत्कृष्ट आया है !! पूरे ग्रंथ में उत्कृष्ट में उत्कृष्ट विषय, बहुत सूक्ष्मतापूर्वक तत्त्वदृष्टि और अध्यात्मदृष्टि से `कृपालुदेव' ने इस जगह खोला है। ऐसा सूक्ष्म निरूपण जो कि आचार्यों के महान ग्रंथों में होता है ऐसा सूक्ष्म निरूपण उनके अनुभव से सहज ही सद्भाग्यवश इस एक पत्र में आ गया है। परिणमन में तो साक्षात् होता है ! अनुभव में तो साक्षात् होता है परंतु यहाँ इसका निरूपण आया है। बहुत उच्च कोटि का विषय है। जितना समझ में आया उतना समझने की कोशिष करने योग्य है। बहुत ऊँचा है इसलिए अपने काम का नहीं, बहुत सूक्ष्म है इसलिए हम नहीं समझ सकेंगे ऐसी अभिप्राय

में आड़ नहीं मारनी चाहिए।

`कृपालुदेव' १०५ (नंबर के) पत्र में कहते हैं कि सम्यक्त्व का अधिकारी कौन ? सम्यग्दर्शन का अधिकारी कौन ? भगवान `महावीर के बोध का अधिकारी - पात्र कौन ?' कि, `सदैव सूक्ष्म बोध का अभिलाषी।' जो सदा ही, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म बोध हो तो भी ग्रहण करने की अभिलाषा रखता हो। अतः जब-जब सत्संग में कोई सूक्ष्म विषय सामने आए, कोई सूक्ष्म विषय की चर्चा चले तब मुमुक्षु जीव उसे ग्रहण करने के लिए तत्पर हो जान चाहिए। इसकी अभिलाषा पूर्वक ऐसे समय में तत्पर रहना चाहिए। जिज्ञासा को विशेष तीव्र करनी चाहिए। और ऐसे करने से सहजरूप से समझ में आए ऐसा यह विषय है। आड़ मारकर धृणास्पद परिणाम होना कि, `इतना सूक्ष्म अपने काम का नहीं !' तो इसमें ऐसे उच्च कोटि के विषय की तिरस्कार वृत्ति होती है और उसमें विराधना हो जाती है। इसलिए ऐसा विषय जब सामने आए तब विशेष ध्यान देकर, विशेष लक्ष्य देकर आत्मा के परम कल्याण का कल्याणभूत विषय सामने आया है, एकदम प्रयोजनभूत विषय सामने आया है - इस तरह वृत्ति को बराबर स्थिर करके एक अखंड़ वृत्ति से इसका परिचर्यन करना चाहिए।

क्या कहते हैं यहाँ ? कि, साता-असाता का संबंध जिस शुभाशुभ परिणाम के (द्वारा) होता है उसके प्रति उदासीन होना। `उदासीन होना' अर्थात् उसे अत्यंत गौण कर देना। अनादि से चली आ रही अपेक्षा वृत्ति को छोड़ देना और उसे गौण करना, उसको उपेक्षित कर देना। गौण करना मतलब उपेक्षा करना। उपेक्षा कहो चाहे गौण करना कहो, (दोनों एकार्थ हैं)। किस तरह गौण करना ? कि, इस शुभाशुभ परिणाम और साता-असाता के साथ मुझे वास्तव

में कुछ लाभ-नुकसान का संबंध नहीं है - मेरे भिन्न होने से ! चैतन्यात्मक स्वभाव जो उपयोग लक्षण से प्रसिद्ध हो रहा है ऐसी जो ज्ञान की ज्ञानवेदन युक्त ज्ञान सामान्यधारा है उसके द्वारा, उसको मुख्य करके, 'उसके द्वारा' अर्थात् उसको मुख्य करके। वह खुद का स्वरूप है - खुद ही ऐसा है। जहाँ अपनत्व है वहाँ रस है, जहाँ अपनत्व है वहाँ मुख्यता है। इस प्रकार इसे मुख्य करके। एक की मुख्यता में दूसरा गौण होता है।

देखो ! अभी तक क्या होता आया है ? कि, देह और देहार्थरूप प्रयोजन इतना मुख्य रहा है कि आत्मा प्रायः विस्मरण दशा को प्राप्त हो गया है ! (यह विषय विशेष कल के स्वाध्याय में लेंगे, समय हुआ है।)

प्रवचन - ३ दि. १९-११-१९९४
पत्रांक-९१३

`श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत, पत्रांक-९१३। पृष्ठ-६५६ के पाँचवे पैराग्राफ में शुरूआत से विषय लेते हैं। कल थोड़ा स्वाध्याय हो चुका है। फिर से थोड़ा लेते हैं। आत्मा को स्वरूप में स्थिर होने के लिए, अचल होने के लिए जो भावना, जो लक्ष्य, जो चिंतवना होनी आवश्यक है वह किस प्रकार से हो ? किस विधि से हो ? ऐसे परिणाम होने की रीत कौन-सी है ? इस विषय पर यहाँ बहुत सुंदर प्रकाशडाला है।

कथन का विषय है - भेदज्ञान ! और वह भेदज्ञान भी प्रयोगात्मकरूप से कैसे हो ताकि देह से भिन्न निज स्वरूप की दृष्टि होकर देहाध्यास टले (वह कहते हैं)। शुभाशुभ परिणाम की धारा से भिन्न चैतन्य स्वरूप की दृष्टि हो, परिणाम स्वरूप मर्यादा में आये ताकि रागादि का अध्यास मिटे और एक समय की चलित परिणाम धारा पर अनादि से जो पर्याय दृष्टि है वह पर्याय दृष्टि छूटे और द्रव्यदृष्टि यानी कि सम्यक् दृष्टि (प्रगट हो) - द्रव्यदृष्टि वही सम्यक् दृष्टि है। ऐसा परिणमन होने की क्या रीत है ? वह परिणमन कैसे उत्पन्न होता है ? रीत के विषय में यहाँ प्रकाश डाला है।

संक्षेप में आत्मस्वरूप की प्राप्ति की विधि क्या है इसका यहाँ विधान है। विधि के कथन को `विधान' कहा जाता है। संप्रदाय में रूढ़िगतरूप से कोई भी पूजा आदि की रचना करने में आती है तब विधान करते हैं, ऐसा कहते हैं। अपने यहाँ मंड़ल विधान करते हैं न ? असल में विधि के कथन को विधान कहते हैं। स्वरूप प्राप्ति का कथन कहो, देहाध्यास, रागादि का अध्यास और पर्याय दृष्टि छूटने की विधि कहो - ये तीनों एक साथ होता है। जब द्रव्यदृष्टि होती है तब अपना मूल द्रव्यस्वरूपरूप अपना अनुभव होता है और अनुभव के काल में ही दृष्टि होती है। तब `रागादिरूप मैं हूँ, देहादिस्वरूप मैं हूँ' ऐसा भ्रम - ऐसा अध्यास - ऐसे अज्ञान का नाश होता है। इस अज्ञान की निवृत्ति होकर आत्मज्ञान प्रगट होता है, इस विषय पर यहाँ बहुत सुंदर विषय चला है।

कहाँ से आत्मा को ग्रहण करें ? खुद राग में, देह में और एक समय की क्षयोपशम आदि की पर्याय में रुक गया है, उसमें से भिन्न आत्मा को उपयोग लक्षण से अलग कर सकते हैं। `उपयोग' नाम का लक्षण, यह खास प्रकार का अन्य द्रव्य और अन्य भाव से अलग छाँट सके ऐसा लक्षण है। उपयोग तो ज्ञान का व्यापार है। वह शरीर के परमाणु में नहीं है। वे सब तो अंधे हैं, परमाणु सारे जड़ हैं। ज्ञान रहित हैं, खुद स्वयं को भी नहीं जानते और आत्मा को भी नहीं जानते।

रागादि विभाव और अनेक प्रकार के विकार हैं वे खुद को भी नहीं जानते और आत्मा को भी नहीं जानते। अतः उसमें भी उपयोग का अभाव है। फ़र्क इतना है कि (रागादि) आत्मा की विकारी पर्याय होने के कारण उसमें चैतन्य का आभास होताा है। परंतु असल में उसमें `उपयोग' जिसे कहें `ज्ञानत्व' जिसे कहें ऐसा

कुछ नहीं है। राग भी अंधा है। और इसीलिए जिसे तीव्र राग होता है उसे `रागांध'कहा जाता है। ऐसे तो लौकिक में भी प्रचलितरूप से कोई किसी के पीछे अति तीव्र राग से प्रवर्तता है और विवेक चूकता है तब उसे `रागांध' कहा जाता है। परंतु राग (तो) स्वरूप से ही अंधा है। इसलिए जहाँ-जहाँ राग है वहाँ-वहाँ आत्मा है, ऐसा नहीं कहकर ज्ञानियों ने ऐसा कहा है कि, `जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहाँ-वहाँ आत्मा है।' जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहाँ-वहाँ आत्मा है। इस तरह आत्मा को ज्ञान से - उपयोग से अलग दिखाया जा सता है।

यहाँ जिस शैली से बात की है वह तो अति सुंदर शैली है ! कि उपयोग लक्षण से आत्मा सनातनरूप से स्फुरित है। सनातनरूप से अर्थात् निरंतर रूप से, सदा ही, कायम। यदि आत्मा को अलग छाँटकर ग्रहण करना हो, आत्मा को भिन्नरूप से ग्रहण करना हो तो उपयोगलक्षण से इसे ग्रहण किया जा सकता है।

`समयसार' में `मोक्षअधिकार' में तो (एक) गाथा है। `प्रज्ञाथी ग्रहवो निश्चये जे जाणनारो ते ज हूँ, प्रज्ञाथी ग्रहवो निश्चये जे देखनारो ते ज हूँ' इस तरह प्रज्ञा खुद भी ज्ञान की पर्याय है और जिसे ग्रहण करना है, भिन्न रूप से ग्रहण करना है वह भी ज्ञानस्वभावी आत्मा है। यानी कि, ज्ञान खुद ही भिन्न करता है और ज्ञान खुद अपने में उपस्थित ज्ञान लक्षण से - उपयोगलक्षण से भिन्न करता है। ऐसे तो ज्ञान के अंदर दोनों बातें हैं। लक्षण भी ज्ञान में है और भिन्नता का कार्य करने वाला भी ज्ञान ही है। दोनों अभेद हैं। एक ही ज्ञान में एक साथ दोनों बातें हैं।

(यहाँ कहते हैं) **`उपयोग-लक्षण से सनातन - स्फुरित ऐसे आत्मा को देह से, तैजस और कार्मण शरीर से भी भिन्न अवलोकन करने**

की दृष्टि सिद्धि करके,...' `देह से, तैजस और कार्मण शरीर से...' यानी कि, संक्षेप में देह के परमाणु स्थूल हैं, इन्द्रियज्ञानगोचर हैं। तैजस और कार्मण शरीर के परमाणु सूक्ष्म हैं, वह इन्द्रियज्ञानगोचर हैं। तैजस और कार्मण शरीर के परमाणु सूक्ष्म हैं, वह इन्द्रियज्ञान गोचर नहीं होते। मात्र अतीन्द्रिय केवलज्ञान गोचर होते हैं। तो इसका संक्षेप यह हुआ कि, स्थूल परमाणु हो या सूक्ष्म परमाणु हो, परंतु उससे यह आत्मा भिन्न है। तैजस परमाणु का सबों को स्पष्ट अनुभव नहीं होता, परंतु तैजस परमाणु के कारण शरीर में एक प्रकार की सुंदरता होती है। जैसे किसी का मृतक कलेवर हो और वही व्यक्ति जीवित हो तो दोनों समय शरीर में फ़र्क दिखेगा। जो मुर्दा है वह निस्तेज दिखेगा।

इस तरह कार्मण परमाणु का सीधा अनुभव इन्द्रियज्ञान से नहीं होता। परंतु अंदर में (जीव के परिणाम में) अनेक प्रकार के विभाव होते हैं तब उस-उस प्रकार की कर्मणवर्गणा की प्रकृति के उदय के साथ आत्मा अपनत्व का अनुभव करता है। जैसे कि, एक व्यक्ति शांति से विचार करता हो और इतने में, अंदर ही अंदर क्रोध आने लगे। जबकि बाहर में क्रोध का कारण नहीं हो। ऐसा क्यों हुआ ? (क्योंकि) अंदर में क्रोध प्रकृति का उदय आया, और उसका अनुभव हुआ। भेदज्ञान नहीं होने के कारण, बिना कुछ विचार किये उसमें अपनत्व का अनुभव होता है। और अनादि संस्कार वश वैसा परिणमन होता ही रहता है।

ऐसे स्थूल-सूक्ष्म, सभी परमाणु से भिन्न आत्मा का अवलोकन करने की दृष्टि साध्य करनी चाहिए। यानी कि दृष्टि घड़नी चाहिए। यहाँ `दृष्टि' माने `दृष्टिकोण'। इसका प्रयोग किस तरह से हो ? आज थोड़ा विस्तार से लेंगे।

इसका प्रयोग इस तरह होता है कि, जब-जब शरीर के द्वारा अपनी इच्छापूर्वक यह आत्मा प्रवृत्ति करता है जिसे देह की प्रवृत्ति कहते हैं। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना ऐसी जो प्रवृत्ति हैं, बोलना यह वचन वर्गणा की प्रवृत्ति है, ये प्रवृत्ति होती हो तब - चलती हो तब ज्ञान लक्षण से जाननेवाला आत्मा भिन्न है ऐसा अपने ज्ञानवेदन से अपने आप का भिन्न अवलोकन में लेना। अवलोकन करना यानी कि जो है उसका अवलोकन करना - Observation करना। भिन्न नहीं पड़ता हो तो भिन्न है कि नहीं उसकी जाँच करना।

बहुत प्राथमिक Stage में जाँच शुरू होती है। कहने वाले ज्ञानी पुरुष हैं और वे अपने अनुभव से एक सत्ता को प्रकाशित करते हैं। इतना विश्वास जब कहने वाले ज्ञानी पुरुष पर हो तब यह प्रयोग शुरू होता है। नहीं तो इस प्रयोग को शुरू करने का विश्वास नहीं आता।

इसके सिवाय पत्र में आगे तो यह विषय चला कि, जब देह में असाता वेदनी हो तब असाता वेदनी की अवस्था में जीव की - ज्ञान की सत्ता है ? इतनी जाँच करनी है। जाननेवाला जो `मात्र ज्ञान' है इस ज्ञान की सत्ता में असाता वेदनी की सत्ता - हयाती है क्या ? इतनी जाँच कर लेना।

फिर से, ज्ञान में असाता वेदनी की अवस्था ज्ञेय होती है (यानी कि) दिखाई देती है। ज्ञान जाननहार स्वभावी है। शरीर की असाता की अवस्था में जानने का स्वभाव है। जैसे आइने के सामने उपस्थित पदार्थों का Exact प्रतिबिंब पड़ता है - जैसा पदार्थ है वैसा ही प्रतिबिंब पड़ता है। उसी तरह ज्ञान में सामने जैसा पदार्थ हो वैसा ही चैतन्य का प्रतिबिंब पड़ता है। आइने की अवस्था जड़ है, आत्मा की अवस्था चैतन्य - आइने जैसी है। और आँख से

तो यह स्पष्ट खयाल आता है कि, लाल रंग लाल दिखता है, काला रंग काला दिखता है। जैसा सामने वर्ण है - रंग है वैसा ही आँख से दिखता है। इसी तरह जैसी गंध है वैसी (गंध) नाक द्वारा समझ में आती है। तो विभिन्न प्रकार के परमाणुओं का ज्ञान होता है, परमाणु की पर्याय का ज्ञान होता है कहाँ ज्ञान में न तो वह परमाणु हैं नाहि परमाणु की पर्याय। जबकि परमाणु और परमाणु की पर्याय में ज्ञान की पर्याय नहीं है।

अनादि देहाध्यास होने के कारण जब-जब जीव को असाता होती है तब वह असाता ज्ञान में मालूम पड़ती है ऐसा अनुभव नहीं करके, `यह असाता मुझे होती है (यानी कि) ज्ञान में होती है' ऐसा एक मिथ्या भ्रम अथवा अध्यास खड़ा होता है और उससे जीव को अशांति और दुःख होता है। `वेदना मुझे होती है' ऐसे अनुभव में दुःख होता है। (मुझे) वेदना मालूम पड़ती है (जबकि) अनुभव तो मुझे ज्ञान का होता है - ऐसे अनुभव में वेदना दिखती है जरूर परंतु वेदना का दुःख नहीं होता।

अस्पताल में जाओ और वेदना से पीड़ित मरीजों को देखो तब तो `अशरण भावना' नज़रों के सामने दिखे ! कि देखो ! कैसे अशरण होकर वेदना को वेदते हैं ! वेदना से छूटने के लिए - वेदना से छूटने की भावना और इच्छा हो तो भी उस वेदना से छूट नहीं सकते। वेदना को तो वेदकर ही छूटकारा होता है। अनिवार्यरूप से पीड़ा को भोगना पड़ता है और उसमें जीव कोई शरणभूत नहीं है। डॉकटर भी ऐसा ही कहते हैं कि, `भाई ! रोग हुआ है तो पीड़ा तो भोगनी ही पड़ेगा। हम से जितना होगा उतना करेंगे परंतु रोग हुआ है तो इस पीड़ा का दंड़ तो भोगना ही पड़ेगा, इसमें दूसरा कोई Short-cut नहीं है कि, तुम्हें

भोगना न पड़े।' भोगना ही पड़ता है।

इस वेदना से मुक्त करने की - छुड़ाने की जो एक परिस्थिति है, ऐसी कोई अलौकिक दिव्य कार्य पद्धति का यहाँ निरूपण चलता है ! जगत के जीवों को दुःखी होते हुए देखकर करुणा सिंधु समान ज्ञानियों ने (उपाय दिखाया है)। `करुणासिंधु' कहा है न ? ज्ञानी तो करुणा के सिंधु (हैं)। सिंधु यानी समुद्र। उनकी दया कभी घटती नहीं है। जैसे समुद्रमें से पानी घटता नहीं वैसे ज्ञानियों के हृदयमें से करुणा घटती नहीं। जगत के जीव इस दुःख से मुक्त हों ऐसी निष्काम करुणा से जिन्होंने परम सत्य का प्रतिपादन किया है और जो जीव वास्तव में दुःख से छूटना - मुक्त होना चाहते हैं, जो चाहते हैं ऐसे जीव इस सत्य प्ररूपणा से दुःखमुक्त हो सकते हैं। सिर्फ अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास यानी Practice करनी चाहिए। प्रयोग का बारंबार अभ्यास करना चाहिए।

शरीर की जो-जो असाता आदि की पर्याय होती है उसकी असाता की हयाती जरूर है, परंतु यह जड़ परमाणु की अवस्था है। निकट होने के कारण ज्ञान में दिखती है, परंतु ज्ञान में उसकी सत्ता का प्रवेश नहीं है। ज्ञान की सत्ता और शरीर की असाता की सत्ता दोनों की हयाती (जरूर) है। (उसमें) मैं कहाँ हूँ ? यह जाँच करनी है। सीधा प्रयोग नहीं हो सकता हो तो प्रयोग शरू कैसे करना ? किस तरह से करना ? कि, `मैं-पना' कहाँ अनुभव में आता है ? (उसकी जाँच करना)। तो प्रथम तो ऐसा ही लगेगा कि, `वेदना में मैं-पना होता है। आप भले ही इसकी `ना' कहते हो कि, वेदना में `मैं-पना' है यह तेरा अध्यास है, यह तेरा भ्रम है, यह अज्ञान है। परंतु मेरा अनुभव तो वेदना में `मैं-पना' का है।' पहले तो ऐसा ही जवाब आएगा। तो कहते हैं, `कोई बात

नहीं, यह तो हमें पता है। कि तुम्हें क्या होता है ? और क्यों होता है ? यह तो हमें पता है।' परंतु यह भूल है और भूल तो जाँच करके दिखे तभी भूल मिटेगी। दिखाई ही न दे तब तक भूल मिटती नहीं। फिर से देखो ! गौर से देखो ! जरा ज्यादा गौर से देखो ! बारीकी से देखो ! ऊपर-ऊपर से नहीं देखकर जरा सूक्ष्मता से देखो ! सूक्ष्मता से देखो ! तो हम जो कहते हैं वही तुम्हें मालूम पड़ेगा ! ज्ञान है उसमें मैं-पने का अनुभव होगा और यदि ज्ञान में मैं-पने का अनुभव हुआ तो तुम्हें असाता की पर्याय में मैं-पने का अनुभव नहीं होगा। जब तक असाता की वेदना की पर्याय में `मुझे होता है' ऐसा मैं-पने का अनुभव होगा तब तक ज्ञान वेदना का भिन्न अनुभव नहीं होगा। एक में दूसरे अनुभव का अभाव है।

इस जीव ने शरीर में अपनत्व का रस बहुत लिया है। शरीर की देख-भाल करना, शरीर की रक्षा करना, शरीर का रक्षण करने के लिए और टिकाने के लिए अनेक उपाय किये और बहुत रस से ये सारे उपाय किये हैं। जिसका परिणाम यह आया है कि, जीव को देहात्मबुद्धि की परिणति हो गई है। देहात्मबुद्धि की परिणति होने के कारण बिना विचार किए भी `देह सो मैं' असाता में `मुझे असाता होती है' बिना इसका विचार किए ही अनुभव हो जाता है ! इतना उलटा प्रयोग अनंतकाल से जीव ने किया है और जब तक भेदज्ञान से भिन्नता नहीं करेगा तब तक वह उलटा प्रयोग चालू है। इस उलटे प्रयोग के सामने सुलटा प्रयोग चाहिए, तब इसका नाश होगा। तलवार के सामने लकड़ी से नहीं लड़ते। तलवार से सामने लड़ने के लिए तलवार चाहिए और पिस्तौल से सामने पिस्तौल। इसमें चाहे कितना ही बलवान हो - पहलवान हो परंतु

पिस्तौल के सामने इसकी पहलवानी काम नहीं आती, मर ही जाएगा। ऐसे उलटे विचार के सामने सुलटे विचार काम आते हैं, उलटे निर्णय के सामने सुलटे निर्णय कार्य करते हैं जबकि जहाँ उलटे प्रयोग से उलटी परिणति हो गई हो वहाँ सुलटे प्रयोग से सुलटी परिणति होनी चाहिए तब तो देहाध्यास का नाश हो।

इसलिए यहाँ बहुत ही मार्मिक शब्द लिया है कि, `**भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि सिद्ध करके,...**' यह प्रयोग एक प्रकार की साधना है। वैसे तो जो परिणाम स्वरूप को साधे उसकी को `साधना' कहते हैं। परंतु यहाँ स्वरूप प्राप्ति के प्रयत्न के परिणाम हैं और ये प्रयत्न आत्म साधना में परिणमन करने का है अतः उसे भी यहाँ `साधना' कहा है। इसके लिए जब-जब असाता का उदय आए तब उस-उस असाता से घबराने के बजाय (प्रयोग करना)। (घबराना नहीं) कि, `अरे...रे...! बीमारी आएगी तो क्या होगा ? पीड़ा होगी तो क्या होगा ?' ऐसे घबराने की कोई जरूरत नहीं है। तब तो प्रयोग करने की तक मिलेगी, प्रयोग करने का मौका मिलेगा। और यह प्रयोग करते समय भी दुःख नहीं होगा। प्रयोग सिद्ध हो जाये फिर तो ज्ञानियों को दुःख नहीं लगता यह स्वाभाविक है, परंतु प्रयोग करने की कोशिष करेगा तो भी इसका दुःख कम तो हो ही जायेगा। परंतु यदि ऐसा प्रयोग करके दृष्टि साध्य नहीं कि होगी तो जब-जब असाता वेदनी का उदय आएगा तब अशरणरूप से - कोई शरण बिना पीड़ा को भोगनी पड़ेगी। अनिच्छा से भी दुःख को - पीड़ा को भोगना पड़ेगा। और यह नज़रों के सामने दिखता है। अतः यहाँ तो दुःख से मुक्त करने का उपदेश है।

(इसलिए कहते हैं) इस `**भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि सिद्ध करके, वह चैतन्यात्मक स्वभाव आत्मा निरंतर वेदक स्वभाव वाला**

होने से,...' यहाँ जानने वाला स्वभाव नहीं लिया। असाता वेदनी है, सुख-दुःख यह वेदना का विषय है। अतः यहाँ ज्ञानी भी जो वेदन की पर्याय धारण करता है उसे यहाँ सामने लिया है। वेदन के सामने वेदन लिया है। दुःख की वेदन मिटाना है तो सामने ज्ञान जो सुखस्वरूपी है उसका वेदन आविर्भूत होना चाहिए। वेदन के सामने वेदन चाहिए। विचार के सामने विचार चाहिए और वेदन के सामने वेदन चाहिए। जिसे दुःख मिटाना है उसे ज्ञान वेदन में आये बिना दुःख कभी मिट नहीं सकता। ऐसा यहाँ कहते हैं।

आत्मा तो निरंतर वेदक स्वभावी है। वेदन करना इसका स्वभाव है। स्वभाव का अभाव नहीं होता। स्वभाव का अभाव हो तब तो वस्तु का अभाव हो जाये। वस्तु का अभाव हो तब तो वस्तु शून्यता को प्राप्त हो जाये। एक पदार्थ - एक द्रव्य यदि शून्यता को प्राप्त करे तो क्रम से विश्व के सभी द्रव्य शून्यता को प्राप्त हो। ऐसा होना तो असंभव है। अतः आत्मा जो वेदक स्वभावी है वह, `**अबंध दशा को जब तक संप्राप्त न हो,...**' जब तक वह वेदन शरीर के साथ जुड़ा है वह संबंध दशा है जब कि अपने आप से जुड़ा है वह अबंध दशा है। स-बंध और अ-बंध आपस में विरुद्ध हैं।

ज्ञान वेदन असाता के साथ (यानी कि) शरीर की अवस्था के साथ संबंध करे तो उसे वेदना और दुःख होगा, होगा और होगा ही। यही ज्ञान वेदन अगर अपनी ज्ञानवेदना में वेद्य-वेदक भाव से रहा तो उसे निराकुल सुख और शांति उत्पन्न होगी। साधन अपने में है, साधन कहीं बाहर में लेने जाना पड़े ऐसा नहीं है।

यह जो शास्त्र है यह तो नकशा है। जैसे मकान का पहले Map - नकशा तैयार करना पड़ता है बाद में ही मकान की चुनाई

होती है, वैसे शास्त्र द्वारा मालूम पड़ता है कि इसमें क्या-क्या होता है ? कैसे होता है ? बाद में आगे अमलीकरण का प्रयोग तो खुद को ही करना पड़ता है। मात्र पढ़ लें, विचार कर लें और सुन लें उससे कोई दुःख मिटकर सुख नहीं हो जाता। जिसे सुख-शांति चाहिए उसे तो उलटा प्रयोग छोड़कर सुलटे प्रयोग में आना ही होगा, तभी उसका छुटकारा होगा। वरना दूसरा कोई इसका उपाय नहीं है।

अतः आत्मा स्वयं ही जब वेदक स्वभावी है वह जब तक संबंध दशा को तोड़कर अबंध दशा को संप्राप्त न हो (तब तक अनिवार्यरूप से दुःख भोगे बिना नहीं रह सकेगा)। अपने स्वरूप के साथ अनुसंधान करे वह अबंध दशा है। `कृपालुदेव' ने जब `कुंदकुंदाचार्य' को नमस्कार किया है वहाँ इन शब्दों का प्रयोग किया है कि, `हे कुंदकुंदादि आचार्यों ! आफके वचन इस पामर को स्वरूप का अनुसंधान होने में निमित्तभूत हुए अतः आपको नमस्कार करता हूँ।' इस तरह अनुसंधान लिया है। यह स्वरूप अनुसंधान ही अबंध दशा है। और स्वरूप का अनुसंधान न रहें तो अनादि से शरीर के साथ जो अनुसंधान है यह संबंध दशा है। इस संबंधदशा को जब तक जीव भोगता है तब तक दुःखी होता है। और जब तक वह अबंधदशा को प्राप्त न करे `**तब तक साता-असातारूप अनुभव का वेदन किये बिना रहने वाला नहीं...**' अतः इसे अनिच्छा से भी साता-असाता का वेदन करना पड़ता है। जिसमें साता तो नहीं के बराबर है, असाता ही मुख्यरूप से है। क्वचित साता हो तो भी मानसिक असाता का अंतर्दाह चालू रहता है।

मानसिक असाता का अंतर्दाह क्यों है ? कि, जीव को अनेक अन्य पदार्थों की इच्छा होती है, जब यह इच्छा होती है तब आकुलता

होती है। क्योंकि पदार्थ (हाज़िर) नहीं होता और इस पदार्थ के संयोग की इच्छा होती है तब इस पदार्थ के अभाव में - संयोग के अभाव में आकुलता होती है और इसे यहाँ `अंतर्दाह' कहा गया है।

`**यह निश्चय करके, जिस शुभाशुभ परिणाम धारा की परिणति से वह साता-असाता का संबंध करता है उस धारा के प्रति उदासीन होकर,...**' यहाँ एक वस्तु स्वरूप का प्रकाश विशेष प्रकार से किया है कि, साता-असाता जो शरीर की अवस्था है वह एक अलग पदार्थ है। भिन्न क्षेत्र में रहने वाला भिन्न पदार्थ है। परमाणु के क्षेत्र में जीव का क्षेत्र नहीं और जीव के क्षेत्र में परमाणु का क्षेत्र नहीं। कोई ऐसा कहे कि, अभी तो जहाँ शरीर है वहाँ आत्मा है और आत्मा है वहाँ शरीर है। शरीर में कहीं खोखली जगह नहीं है कि, जहाँ आत्मा के प्रदेश हैं और आत्मा में कहीं खोखली जगह नहीं कि जिसके अंदर शरीर के परमाणु रहे हों। यह धन है। यहाँ चैतन्यघन आत्मा भी है और सारे परमाणु भी घनिष्ट रूप से रहे हुए हैं। Vacuum कहीं नहीं है ! खाली जगह नहीं कि, जहाँ आत्मा के प्रदेश जमा हो जाये। तो फिर शरीर के क्षेत्र में आत्मा है और आत्मा के क्षेत्र में शरीर है, ऐसा है कि नहीं ? (तो कहते हैं) नहीं।

आकाश की अपेक्षा से दोनों एक क्षेत्र में रहते हैं। (उसमें) आकाश निमित्त है। अवगाहन होने के लिए, शरीर की अवगाहन होने के लिए और आत्म प्रदेशों की अवगाहना होने के लिए आकाश तो निमित्त है। निमित्त की अपेक्षा से एक क्षेत्र है। परंतु दोनों के उपादान का विचार करें तो जीव के प्रदेशों में परमाणु का प्रवेश नहीं और कोई परमाणु में जीव का प्रवेश नहीं है। यदि

एक दूसरे में प्रवेश हो सकता जब तो जीव, जड़ हो जाता, या फिर (तो) जो परमाणु जड़ हैं, वे चैतन्य हो जाते, परंतु ऐसा नहीं होता, ऐसा प्रकटरूप से दिखता है। अतः आकाश के एक क्षेत्र में शरीर और आत्मा होते हुए भी दोनों अपनी-अपनी अपेक्षा से भिन्न-भिन्न क्षेत्र में रहे हुए हैं।

आत्मा के चैतन्य प्रदेश अलग हैं, जड़ परमाणु का क्षेत्र अलग है और अलग हैं तभी तो अलग पड़ते हैं। दूध और पानी अलग हैं तभी तो अलग किये जा सकते हैं। इसी तरह शरीर और आत्मा अलग होने के कारण ही अलग होते हैं। आयुष्य पूरा होता है तब स्पष्ट रूप से अलग हो जाते हैं।

इस ग्रंथ में `कृपालुदेव' ने `अवगाहन' शब्द की परिभाषा बहुत सुंदर की है। `अवगाहन' माने क्या ? यह जैन परिभाषा का शब्द है। क्योंकि अन्यमत के शास्त्रों में यह विषय और यह विज्ञान नहीं है। जैन दर्शन के विज्ञान के अनुसार यह शास्त्रीय परिभाषा है और बहुत सुंदरता से स्पष्ट की है। आकाश की अपेक्षा से एक क्षेत्र में रहने पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अपने स्वरूप का त्याग किये बिना अपने स्वरूप में ही सुस्थित रहना और फिर भी आकाश खी अपेक्षा दोनों एक क्षेत्र में हों, परंतु अपने-अपने स्वरूप को छोड़े बिना - ऐसी अवस्था को `एक क्षेत्रावगाह अवस्था' कहा जाता है। कर्म और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह संबंध हुआ उसे अपन `द्रव्यबंद' कहते हैं।

जब किसी भी जीव के भाव अन्य पदार्थ में राग, द्वेष, मोह के कारण प्रतिबंधरूप होते हैं तब उसे `भावबंध' हुआ ऐसा कहते हैं। ऐसे भावबंधरूप पर्याय जीव की हो तब उस जगह पर रही हुई जो कार्मण वर्गणा है उसमें जो कर्म के परमाणु हैं वे प्रकृति,

प्रदेश, स्थिति, अनुभाग आदि अवस्थाएँ धारण करके भिन्न-भिन्न प्रकृति से आत्मा के प्रदेशों के साथ कुछ समय की मर्यादा तक साथ-साथ रहें ऐसे अनुबंध को `द्रव्यबंध' कहा जाता है। ऐसा आत्मा के साथ कर्म का द्रव्यबंध हो, पुद्गल द्रव्य का बंध हो, संबंध हो तो भी इस एक क्षेत्रावगाह संबंध में भी दोनों द्रव्य अपने स्वरूप को छोड़े बिना रहे हुए होने से वास्तव में वे अपने-अपने क्षेत्र में ही रहें हैं।

अब यहाँ क्या लेना है ? चलते हुए विषय को इसके साथ अनुसंधान में लें तो क्या कहना चाहिते हैं ? ऐसा कहना चाहते हैं कि, जब परमाणु, परमाणु के क्षेत्र में हैं और जीव, जीव के क्षेत्र में हैं, तो फिर संबंध किसका ? तो (कहते हैं कि), जीव शुभ-अशुभ परिणामधारा के माध्यम से इसका संबंध करता है। अब पढ़े फिर से ! `**जिस शुभ-शुभ परिणामधारा की परिणति से वह साता-असाता का संबंध करता है,...**' शुभ और अशुभ परिणाम के द्वारा जीव पदार्थों का संबंध करता है। यानि जीव एक पदार्थ - एक द्रव्य ! अपने क्षेत्र में रहा है। परमाणु एक दूसरा पदार्थ, अपने क्षेत्र में रहा है। दोनों के बीच में पुल है तब संबंध होता है। ये शुभ और अशुभ, राग-द्वेष, मोह के जो परिणाम हैं इनके द्वारा जीव भाव से जुड़ता है।

इसलिए तो (`जड़ अने चैतन्य...' काव्य में) बहुत सुंदर बात ली है कि, `ग्रहे अरूपी रूपी ने अे अचरजनी वात !' यह कैसे संभव है ? अरूपी ऐसा चैतन्यद्रव्य यह रूपी ऐसे कर्म परमाणु को ग्रहण करता है, यह तो हमें एक आश्चर्य की बात लगती है ! यह कैसे हो सकता है ? `जीव बंधन जाणे नहीं केवो जिन सिद्धांत।' बंधन के विषय में जिनेश्वर का जो सिद्धांत है उसे जगत

के जीव नहीं जानते कि, बंध कैसे होता है ? यानी कि भावबंध का स्वरूप क्या है ? द्रव्यबंध का स्वरूप क्या है ? यह सिद्धांतिक रीति से - जिनेश्वर देव की सिद्धांतिक रीति से जगत (के) जीव अनभिज्ञ हैं। यानी खुद कब बंधता है इसका इसे पता नहीं। किस तरह बंधता है इसका पता नहीं। और यह बंधन का उदय आये तब उसे किस तरह भोगता है या किस तरह उसे नहीं भोगना चाहिए, इसका भी इसे कुछ पता नहीं चलता। इसी तरह से संसार चलता है।

इसीलिए भावबंध का स्वरूप दिखाते हैं, द्रव्यबंध का स्वरूप दिखाते हैं और फिर ऐसा कहते हैं कि, `**शुभाशुभ परिणामधारा की परिणति से,...**' साता-असाता जो शरीर के परमाणु की अवस्था है इसका जीव संबंध करता है। तो इस संबंध को तोड़ने के लिए क्या करना चाहिए ? बहुत व्यवस्थित प्रतिपादन है। दोनों द्रव्य तो अपने-अपने स्वरूप में हैं। जब दोनों द्रव्य अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप स्वचतुष्टय में ही हैं तो संबंध करने वाले तो शुभाशुभ परिणाम धारा का पुल ही है। पुल को तोड़ दो ! ऐसा कहते हैं। अतः (दोनों) अपने-अपने में रह जायेंगे। पहले इस शुभाशुभ परिणामधारा के प्रति उदासीन हो जाओ !

यहाँ उदासीन होने के लिए इसलिए कहा है क्योंकि, जब जीव को वास्तव में अपने शुभाशुभ परिणाम अनुभव में आते हैं तब इसमें रस आता है। परपदार्थ में और राग में सुखबुद्धि होने के कारण इसमें अपेक्षा वृत्ति रहती है, सुख की उपेक्षा रहती है। इस अपेक्षा के सामने, उपेक्षा और उदासीनता होनी आवश्यक है। ताकि उसके प्रति उदासीन होकर स्वरूप की मर्यादा में आ सके, ऐसा कहेंगे। जब तक राग की अपेक्षा रहती है तब तक आत्मा स्वरूप

की मर्यादा में आकर स्वरूप का अनुसंधान करके स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता।

एक स्पष्ट विचार इसके लिए लें कि, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आनंद स्वरूप है, सत्चिदानंद स्वरूप है ऐसा जो आत्मा - स्वयं, अपने खुद के स्वरूप का चिंतवन है, इस चिंतवन के दौरान ज्ञान में स्वरूप है। इसमें दो गुणों की पर्याय है। ज्ञान गुण की पर्याय में, ज्ञान में आत्मस्वरूप है कि, `मैं ऐसा ज्ञानानंदस्वरूपी सत्चिदानंदस्वरूपी आत्मा हूँ।' परंतु इसका चिंतवन चले तब यह ज्ञान को अनुसरता हुआ चारित्र गुण में राग का विकल्प है। (ऐसे) चिंतवन में दो गुणों की मिश्र पर्याय है। इसे `विचार' भी कहते हैं और इसे `चिंतवन' भी कहते हैं। अब जो विकल्प है - राग है उसकी जब तक उपेक्षा रहे तब तक विकल्प मिटकर निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। निर्विकल्प अनुभव है वह आत्म स्वरूप का अनुभव है और इसमें सुख, शांति और आनंद का वेदन है। वह अबंध परिणाम है लो ! वह परिणाम है वह अबंध परिणाम है ! क्योंकि उस काल में उपयोग का किसी दूसरे पदार्थ के साथ संबंध नहीं होता। अन्य पदार्थ के साथ यानी मन, वचन और काया के साथ भी संबंध नहीं होता। देह होने के बावजूद भी देह में चैतन्य गोला छूटा - भिन्न अनुभव में आए ! मन, वचन, काया के परमाणुओं के साथ तो उस काल में उपयोग को - आत्मा को संबंध नहीं है। परंतु आत्मा के स्वरूप के चिंतवन के विकल्प के साथ भी इसका संबंध नहीं है। यह संबंध कब मिटे ? कि, जब इस विकल्प की उपेक्षा मिटे तब। विकल्प की उपेक्षा कब तक रहती है ? कि, `मुझे आत्मा का ऐसा चिंतवन हो तो अच्छा हो !' तब तक विकल्प की उपेक्षा रहती है और तब तक विकल्प मिटकर निर्विकल्प

अवस्था नहीं होती।

जिस शुभ परिणाम धारा से आत्मा का विकल्प करते हैं यह अवस्था यदि चालू रही तो अशुभ परिणाम से देह की असाता में जुड़कर वेदना का अनुभव किये बिना नहीं रह सकेगा। क्योंकि जाति दोनों की एक हैं। शुभ की जाति और अशुभ की जाति - जाति की अपेक्षा से दोनों एक हैं। यानी दोनों को एक तत्त्व में रखा है। सात तत्त्वों में इसे आस्रव और बंध तत्त्व में गिनने में आता है। (इस तरह) जब तक जीव को विकल्प में रस है तब तक निर्विकल्प नहीं होता। यह विकल्प से भी उदासीन हो तब निर्विकल्प हुआ जाय और निर्विकल्प हो तब स्वरूप मर्याद में आए। यह भेदज्ञान का कितना सूक्ष्म प्रतिपादन किया है !!

अब यहाँ थोड़ी तकलीफ पड़ती है, इस तकलीफ का हमलोग विचार करें। (ऊपर में कहा कि) विकल्प से उदासीन हो जाओ, यह तो हमसे कैसे हो ? (क्योंकि) विकल्प तो छोड़ना चाहे तो भी छूटता नहीं है। आत्मा में सतत विकल्प हो ते ही रहते हैं और मानों ऐसा लगता है कि, यह तो कितनी बड़ी खान है कि इसमें से विकल्प आते ही रहते हैं ! आते ही रहते हैं ! सतत... सतत... (आते ही रहते हैं) छूटते ही नहीं, और मिटते नहीं। यह कौन-सी खान है कि जिसमें इतने सारे विकल्प भरे हैं ? (तो कहते हैं कि) यह विकल्प और राग की अपेक्षारूप अज्ञान की खान है, इसमें से सारे विकल्प आते हैं। विकल्प में मैं-पना, राग में मैं-पना ऐसा जो एकत्व, एकत्वबुद्धि सहित परिणाम में एकत्वपना होना वह विकल्प को चालू रखता है। इसमें मैं-पना होने के कारण विकल्प की अपेक्षा वृत्ति चल रही है। जहाँ मैं-पना हो, अपनेपना हो वहाँ उदासीनता नहीं आ सकती।

(अब) इसका क्या करना ? इसका कोई उपाय है ? (तो कहते हैं) इसका भी उपाय है। जिनको इन शुभाशुभ परिणाम से भिन्न होने का भेदज्ञान का प्रयोग करना हो उन्हें सबसे पहले अपनी हयाती को खोज़ना है कि, विकल्प में मेरी सत्ता है कि मेरी सत्ता ज्ञान में है ? देखो ! दोनों परिणमन कर रहे हैं। ज्ञान भी परिणमन करता है और रागादि विकल्प का परिणमन भी चालू है।

यह विषय `समयसार' में ६९-७० गाथा में लिया गया है। आचार्यदेव ने वहाँ दोनों गाथा की टीका में विस्तार किया है। परंतु यह प्रयोग किस तरह करना ? यह प्रयोग करने में प्रथम कक्षा में जाँच करनी है कि, जिस तरह ज्ञान परिणमते हुए मालूम पड़ता है उसी तरह रागादि, क्रोधादि परिणमते हुए मालूम नहीं पड़ते। वहाँ ऐसी भाषाली है। जिस तरह रागादि और क्रोधादि होते - परिणमते मालूम पड़ते हैं उसी तरह ज्ञान होता हुआ - परिणमता हुआ मालूम नहीं पड़ता। भाषा तो इतनी है। (परंतु) इसका मतलब क्या ? कि, रागादि में `मैं-पना' रूप परिणमन होता हुआ मालूम पड़ता है, तब तक `ज्ञान में मैं' - ऐसा परिणमन होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। जाँच कर लो ! इस प्रकार का परिणमन चालू है। इसीलिए पहले ऐसे बात ली है।

अब ऐसा कहते हैं कि, अगर ज्ञान में मैं-पना जो है - यह मैं-पना होते हुए - परिणमते हुए मालूम पड़े, (क्योंकि) ज्ञान में तो खुद का अस्तित्व है। राग में खुद का अस्तित्व नहीं है क्योंकि राग मिट जाये तब आत्मा का नाश नहीं होता। राग का नष्ट होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। यानी कि, वास्तव में राग मे आत्मा का अस्तित्व नहीं यह साबित होता है। तो जब राग में आत्मा का अस्तित्व नहीं तो मैं भ्रम से क्यों इसमें मैं-पना का

अनुभव करता हूँ ? अतः जब तक ज्ञान मं मैं-पना अनुभवगोचर न हो, जब तक मैं-पना न दिखे, मालूम न पड़े तब तक सूक्ष्मता से अंतर अवलोकन करके - भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि साध्य करनी चाहिए। ऐसी अंतर में Practice चालू करनी पड़ती है। वरना अभिन्न अनुभव करने की Practice चालू है। `राग वह मैं' यह चालू ही है। यानी यहाँ भी पहले अस्तित्व ग्रहण करना चाहिए।

एक साथ दोनों पर्याय हैं। ज्ञान और राग की पर्यायें एक साथ हैं और ये तो सदा ही एक साथ रहने वाली हैं। क्योंकि दोनों गुणों का परिणमन तो सदा ही चलने वाला है। कोई गुण एक समय (भी) बिना परिणमन तो रह ही नहीं सकता। (क्योंकि) द्रव्य परिणमनशील स्वभावी है अतः इसके सभी गुण भी परिणमनशील स्वभावी हैं। ये तो सब द्रव्यानुयोग के सिद्धांत हैं। तो फिर दोनों में तो मैं-पना कोई नहीं कर सकता और हो भी नहीं सकता। क्योंकि जीव के परिणाम में एक ही जगह मैं-पना करने का प्रकार है। छद्मस्थ (दशा में) यह अनिवार्य परिस्थिति है कि, जीव दोनों जगह मैं-पना नहीं कर सकता। (इसलिए) जब तक रागादि में मैं-पना करता है तब तक ज्ञान में मैं-पना होते हुए भी उसमें वह मैं-पने को चूक जाता है।

अब, पहले मध्यस्थ होकर अवलोकन करें - Observe करें। ज्ञानी ऐसा नहीं कहते कि, मैं कहूँ इसे अंधश्रद्धा से मान लेना ! तू ही खोज ! मैं कहता हूँ ऐसा वस्तु का स्वरूप है कि नहीं इसकी तू खोज कर और तुझे दिखे और विश्वास आये तब मानना ! ऐसे ही मानेगा तो तू टिक नहीं सकेगा। आज `हाँ' कहेगा और फिर कल तू ही `ना' कहेगा। और ऐसा बनता है - आज `हाँ' कहता हो कि, `कृपालुदेव' कहते हैं यह ठीक है। कल कहेगा

कि, `ना, अब यह ठीक नहीं लगता !' कहाँ से ऐसा हो गया ? यह वहाँ से ऐसा हुआ कि, पहले जो माना था वह जाँच किये बिना, परीक्षा किये बिना, प्रयोग किये बिना, ऊपर-ऊपर से माना था। इसीलिए आज ऊपर-ऊपर से `हाँ' कहता हो इसका कोई भरोसा नहीं कि, कल `ना' कहेगा कि नहीं। अतः इस ओघसंज्ञा का निवारण तो करना ही होगा। और इस ओघसंज्ञा का नाश प्रयोग पद्धति से निर्णय हुए बिना यथार्थ निर्णय हुए बिना कभी ओघसंज्ञा का नाश नहीं होता और ओघसंज्ञा में `हाँ' कहता हो तो भी यह जोख़िम है ! जोख़िम इसलिए है कि, कब `ना' कहेगा इसका कोई ठिकाना नहीं रहेगा।

अतः शुभाशुभ परिणामधारा की अपेक्षा इसमें मैं-पने के कारण है और यह अहंपने को भेदज्ञान के प्रयोग के अभ्यास द्वारा मिटाना चाहिए। वास्तविकरूप से देखा जाये तो ज्ञान में मैं-पना है ही, अस्तित्व होने के कारण मैं-पने का अनुभव होता है। जरा ध्यान देकर, लक्ष्य देकर, विकल्प के रसमें से निवृत्त होकर, विकल्प की अपेक्षावृत्ति छोड़कर स्वरूप मर्यादा में आना चाहिए। कई लोगों को यह पता नहीं, रोज आत्म स्वरूप का चिंतवन करने बैठें और स्वरूप का चिंतवन चले तब कोई दूसरी चिंता नहीं चली हो तो ऐसा कहेगा, `हाँ,...!' आज तो हमें बहुत अच्छा स्वरूप चिंतवन हो गया !' यहाँ ऐसा कहते हैं कि, जब तक इस चिंतवन के विकल्प में रस है तब तक निर्विकल्प स्वरूप की मर्यादा में आकर निर्विकल्प अनुभव नहीं होगा। इसमें भी तू उदासीन हो जा ! ऐसा कहते हैं। स्वरूप का विकल्प आये तो भी इसमें तू उदासीन हो जा, ऐसा कहते हैं, ठीक ! इसे तू कीमत नहीं देना (कि) `मुझे बहुत अच्छा चिंतवन चला !' आज तो स्वाध्याय में इतने अच्छे

भाव चलें !' ऐसा कहेगा। भाई ! वे सब विकल्प हैं। जो कि राग के अंश हैं। और इसका रस और इसकी अपेक्षा छोड़कर ज्ञान रस - चैतन्य रस है, उसकी अपेक्षा करके, ज्ञान वेदन की अपेक्षा करके, राग से अपेक्षित होकर जो ज्ञान में ज्ञान का वेदन अनुभवगोचर किया जाये तो अंदर से शांति का फुँवारा छूटे बिना रहे नहीं ! इसे आत्मशांति और आत्मा का अनुभव कहा जाता है।

`कृपालुदेव' यहाँ यह बात करते हैं कि, `**जिस शुभाशुभ परिणाम धारा की परिणति से वह साता-असाता का संबंध करता है उस धारा के प्रति,...**' यानी शुभाशुभ विकल्पों के प्रति `**उदासीन होकर, देह आदि से भिन्न और स्वरूप मर्यादा में रहे हुए उस आत्मा में जो चल स्वभावरूप परिणाम धारा है उसका अत्यंतिक वियोग करने का सन्मार्ग ग्रहण करके,...**' यह एक नया आगे का कार्य अब करना है। देह से भिन्न कराया, शुभाशुभ परिणाम धारा से उदासीन कराया, अब एक दूसरी बात करते हैं कि, देह से भिन्न है और जो आत्मा अपने स्वरूप की मर्यादा में रहा है उस आत्मा में एक उत्पाद-व्ययरूप चल परिणाम की धारा है उसका आत्यंतिक वियोग करने का सन्मार्ग ग्रहण करना वह योग्य है। इसका मतलब क्या ? बहुत गूढ़ भाषा है। `कृपालुदेव' के पत्र पढ़ना कोई आसान बात नहीं है ! कुछएक जगह तो बहुत गूढ़ भाषा है ! कितनी जगह तो विद्वान और पंड़ितों का पानी उतर जाये ऐसा विषय है ! (ऐसा लगता है कि) ये क्या लिखते हैं वे ?

जो चल परिणाम हैं इनका आत्यंतिक वियोग करना माने क्या ? `उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तसत्' है। एक सत् पदार्थ में ध्रुव पदार्थ भी है और उत्पाद-व्यय भी है और सदा ही है। इसी तरह आत्मा में भी आत्मा ध्रुवस्वरूपरूप भी है और उत्पाद-व्ययस्वरूप भी है।

तो यह जो उत्पाद-व्यय है यह चल परिणाम की धारा है। इसका अत्यंत विचोग करना माने क्या ? कि, परिणाम का नाश कर देना क्या ? तो ऐसा तो नहीं हो सकता। परिणाम तो चालू ही रहने वाले हैं। यहाँ तक कि सिद्धालय में सिद्ध परमात्मा को भी उत्पाद-व्ययरूप सिद्धदशा चालू ही है। तो यहाँ कहना क्या चाहते हैं ? इस परिणाम में `एक समय की पर्याय सो मैं' - ऐसी जो अनुभव है वह पर्यायदृष्टि है, वह पूरी की पूरी छूटनी चाहिए, इसका अत्यंत वियोग होना चाहिए। इसे `चल परिणाम का अत्यंत वियोग' ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं। क्योंकि दृष्टि अनादि से पर्याय के ऊपर है।

`प्रवचनसार' में `कुंदकुंदाचार्य देव' कहते हैं कि, `पर्यायमूढ़ाः परसमयाः' (अर्थात्) (जो) पर्याय में मूढ़ हैं (अर्थात्) पर्याय जितना - उतना ही मैं (ऐसा मानता है)। थोड़ा क्षयोपशम हो तो `मैं बुद्धिवाला !' (ऐसे) बुद्धि का अभिमान होता है, ज्ञान का अभिमान होता है। `मैं बहुत समझता हूँ, समझ लेता हूँ।' यह पर्याय का अहंपना है। राग हो तब (ऐसा मानता है कि) `मुझे बहुत अच्छा राग आया !' इस पर्यायबुद्धि सहित पर्याय में मूढ़ हुआ जीव पर्यायदृष्टि है और वही मूल मिथ्यात्व है। फिर तो यह सूक्ष्म मिथ्यात्वमें से - मूल मिथ्यात्वमें से मिथ्यात्व वृद्धिगत होकर गाढ़ होते जाता है और वह यहाँ तक कि कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र को (मानने) तक चला जाता है !

यहाँ तो ऐसा कहना है कि, यह पर्यायदृष्टि मिटती है तब पूरी की पूरी मिटती है और द्रव्यदृष्टि होती है तब पूरी की पूरी द्रव्यदृष्टि होती है। इस द्रव्यदृष्टि को सम्यक्दृष्टि कहते हैं (और) पर्यायदृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। और जब यह द्रव्यदृष्टि प्रगट होती है तब तमाम पर्यायों को एक स्थान में रखी जाती हैं। `भव

मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो' - `अपूर्व अवसर' में गाया है। भव और मोक्ष तो प्रतिपक्ष हैं। भव में अनादि से दुःखी हो रहा है और मोक्ष में सुखी होने वाला है। दोनों को एक सरीखे समभाव में कहाँ से रखना ? (तो कहते हैं कि) द्रव्यदृष्टि से दोनों एक प्रकार में जाते हैं। पर्यायमात्र है इसकी दृष्टि छूटती है। सम्यग्दर्शन की पर्याय की सम्यग्दर्शन पर दृष्टि नहीं है और मोक्ष पर्याय की भी सम्यक्दृष्टि को दृष्टि नहीं होती।

अतः `कृपालुदेव' ने एक जगह कहा कि, मोक्ष की इच्छा (भी) करने जैसी नहीं है। और १६५ (पत्र में) तो साफ कहा, २४ वें वर्ष में जब उनको ज्ञान प्रगट हुआ तब (`सोभाग भाई') को जो पहला १६५ नंबर का पत्र लिखा इसमें तो स्पष्ट लिखा कि, `**इस ज्ञान की दिन प्रतिदिन इस आत्मा को भी विशेषता होती जाती है। मैं मानता हूँ कि केवलज्ञान तक का परिश्रम व्यर्थ तो नहीं जाएगा। हमें मोक्ष की कोई जरूरत नहीं है।**' (यह) कहाँ से आया ? बीच में यह वाक्य कहाँ से आया ? पहले ऐसा लिखा कि, केवलज्ञान तक का परिश्रम अब व्यर्थ तो नहीं जाएगा यानी कि, अब मोक्ष तो होना ही है। परंतु (यह तो) द्रव्यदृष्टि का घड़ा का है ! `**हमें मोक्ष की कोई जरूरत नहीं है।**' इसका अर्थ क्या ? पहले लिखते हैं कि, हमारी केवलज्ञान की मेहनत व्यर्थ नहीं जाएगी। फिर कहते हैं कि, मोक्ष की हमें जरूरत नहीं ! कहाँ से आया ?

हमारी पर्यायदृष्टि का अभाव हो गया है अतः मोक्ष भी एक पर्याय है (इसीलिए) अब हमें इसकी कोई जरूरत नहीं है। ऐसी श्रद्धा - ऐसी दृष्टि को द्रव्यदृष्टि कहते हैं। कहा न `कृपालुदेव' का श्रद्धान कैसा था ? इनका निरावरण ज्ञान कैसा था ? यह श्रद्धान ऐसा था कि, जिसमें मोक्ष की पर्याय की भी परवा नहीं

थी ! इसकी भी परवा छूट जाती है। ऐसी दृष्टि को यहाँ सम्यक्दृष्टि कहते हैं। यहाँ मिथ्या दृष्टिपने का - पर्याय दृष्टिपने का अत्यंत अभाव करना, यह बात यहाँ लेना चाहते हैं। विषय थोड़ा बाकी रह गया है, कल के स्वाध्याय में बाकी का विषय लेंगे. यहाँ तक रखें।

प्रवचन - १ दि. १७-११-१९९४
पत्रांक-९१३

`श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत। पत्रांक-९१३ चलता है। (जो विषय) चल गया है उसे संक्षेप में फिर से लेते हैं। इस जगह भेदज्ञान के विषय का निरूपण करते हुए पर्यायदृष्टि का अभाव करने का भी संकेत है। जैसे जीव को अनादि से देह के साथ एक एकत्वबुद्धि है, राग के साथ भी एकत्वपने का परिणाम है वैसे ही जीव को क्षणिक पर्याय के साथ भी एकत्वपना वर्तता है।

आत्मा अपने मूल स्वरूप से अनादि-अनंत शाश्वत पदार्थ होने के बावजूद भी स्वरूप से नित्य होने पर भी क्षणवर्ती अनित्य अवस्था में अपनेआप का - `मात्र अवस्था जितना और जैसा ही मैं हूँ' ऐसा अनुभव करता है वह पर्यायदृष्टि भी पूरी की पूरी छूट जानी चाहिए। ऐसा ही सर्व महात्माओं का उपदेश है।

शुरूआत में यह कहा कि, उपयोग लक्षण से सनातन स्फुरित ऐसे आत्मा को देहादि परमाणु की अवस्था से भिन्न अवलोकन करने की दृष्टि साध्य करनी चाहिए। भिन्न विचार करने मात्र नहीं बल्कि आगे बढ़कर; भिन्न विचार करना वह एक बात है, भिन्न रूप से अवलोकन करना वह दूसरी बात है। और इस अवलोकन के अभ्यास

से भिन्नत्व का अनुभव करना यह उसका फल है। इस तरह भिन्न अवलोकन करने के पुरुषार्थ का अभ्यास अच्छी तरह बारंबार निरंतर करना चाहिए। और जिन जड़ पदार्थों के साथ चैतन्यात्मक स्वभावी जीव शुभाशुभ परिणाम द्वारा संबंध करता है उन शुभाशुभ परिणाम से भी भिन्नत्व का अनुभव होना चाहिए। इन शुभाशुभ परिणाम धारा (से) भिन्नत्व का अनुभव तो तब हो कि जब उन परिणाम के प्रति का रस छूटकर उसके प्रति उपेक्षाभाव और उदासीनता प्रगट हो।

यद्यपि शुभाशुभ परिणाम स्वयं आकुलता स्वरूप हैं और उपयोग लक्षण से सनातन स्फुरित ऐसी ज्ञान वेदन की धारा है, निर्विकल्प ज्ञान वेदन की धारा ज्ञान सामान्यरूप है उसमें निराकुलता और शांति है। आकुलता और निराकुलता का भेद जिसे समझ में आए अथवा आकुलता और निराकुलता - दोनों प्रकार के परिणाम का अंतरंग में मिलान हो तो यह बहुत स्वाभाविक है कि जीव आकुलता को छोड़कर निराकुल भाव के प्रति आये। आकुलता से उपेक्षित हो और निराकुलता में स्थिर हो।

जैसे रास्ते पर चलता आदमी, धूप और छाया, ऐसे दो भाग में रास्ता हो, तो धूप को छोड़कर छाया में चलता है। स्वाभाविकरूप से धूप से बचकर छाया में चलता है। उसी तरह जीव के परिणाम, यह जीव की चाल है और वहाँ दो प्रकार के परिणाम हैं। जो शुभाशुभ परिणाम हैं उसमें आकुलता है और जो ज्ञानसामान्य ज्ञान के परिणाम हैं उसमें भी जो ज्ञानसामान्य ज्ञान का अंतरंग है उसमें निर्विकल्प ज्ञानधारा सदा ही चलती है, सभी जीवों को चलती है और वहाँ निराकुल शांति है। उसके अज्ञानवश, अपने ही ज्ञान में रहे वेदन से जीव खुद अनभिज्ञ होने के कारण शुभाशुभ परिणाम में, कोई न कोई परिणाम में रस लेता है, उसकी अपेक्षा रखता

है।

कल के स्वाध्याय में यह बात चली थी कि, आखिर में कुछ नहीं तो आत्मस्वरूप के जो विकल्प हैं इन विकल्पों में इसे रस पड़ता है कि, `दूसरे विकल्प मुझे अभी नहीं आते परंतु यह स्वरूप चिंतवन का विकल्प है यह अच्छा विकल्प है, मुझे इसमें रस आता है।' और जीव इसकी अपेक्षा करता है। दूसरे सामान्य जीवों को स्वरूप चिंतवन हो उन्हें तो स्वानुभव का अवसर नहीं है, परंतु स्वरूपसन्मुख हुए जीव को, जो मुमुक्षु सम्यक्त्व सन्मुख हुआ हो यानी कि उन्हें ज्ञानस्वरूपी आत्मा लक्षगोचर हुआ हो, ज्ञान लक्षण से - उपयोग लक्षण से भावभासन हुआ हो तो भी जब तक स्वरूप चिंतवन के विकल्प पर ज़ोर जाता है तब तक, फिर ये विकल्प भले ही आत्मस्वरूप - निश्चयनय के पक्ष काले हों, तो भी विकल्प भी उपेक्षा होकर, पुरुषार्थ तीव्र होने पर विकल्प की उपेक्षापूर्वक, जब तक स्वरूप की - स्वभाव की उपेक्षा में न आए तब तक निर्विकल्प सम्यग्दर्शन और स्वानुभव नहीं होता। तब तक पर्यायदृष्टि चालू रहती है। सम्यग्दर्शन नहीं होता अर्थात् तब तक पर्यायदृष्टि चालू रहती है। इस पर्ययादृष्टि का आत्यंतिक वियोग मतलब इस पर्यायदृष्टि का आत्यंतिक नाश होना चाहिए तो ही सम्यक्दृष्टि होता है। इस विषय का प्रतिपादन आगे अपने चलते हुए स्वाध्याय में आता है।

शुभाशुभ परिणाम की धारा साता-असाता का संबंध करती है। उस धारा के प्रति उदासीन होकर देहादि से भिन्न, देहादि और रागादि से भिन्न और अपने स्वरूप की मर्यादा में रहे उस आत्मा में `**जो चल स्वभावरूप परिणामधारा है,...**' वह आत्मा में ही है। शुभाशुभ परिणाम से अलग परिणामधारा कौन-सी है ? (तो कहते

हैं कि) ज्ञान का क्षयोपशम है यह भी एक क्षणवर्ती पर्याय है। यह भले शुभरूप या अशुभरूप न हो परंतु वह एक क्षण का अनित्य परिणाम है। जो चल स्वभावरूप है, चलित है। जब तक दृष्टि चलित पदार्थ पर हो तब तक यह निश्चल नहीं हो सकती। निश्चल नहीं हो सकती माने स्थिर नहीं हो सकती। यह चल स्वभावरूप परिणाम धारा है। `**उसका आत्यंतिक वियोग करने का सन्मार्ग ग्रहण करके,...**' सन्मार्ग का अर्थ यहाँ पुरुषार्थ है।

चल स्वभावरूप परिणाम धारा जो क्षणिक पदार्थ है उसकी गौणता, उसकी अत्यंत गौणता स्वरूपलक्ष हुए बिना संभव नहीं है। मूल शुद्धात्म स्वरूप भावभासन में है उसका जितना महिमावंतपना है उतना महिमावंतपना ज्ञान में प्रतिभासित न हो और इसके प्रतिभासित होने पर स्वरूपलक्ष्य की उत्पत्ति न हो, तब तक क्षणिक परिणाम में जितना भी आकर्षण है, रस है, इसका व्यामोह है और उस पर जो दृष्टि है यह हटती नहीं, इसकी गौणता नहीं होती। और पर्याय आश्रित परिणमनशील जो पुरुषार्थ, ऐसा जो वीर्य गुण का परिणमन, यह परिणमन दिशा बदलकर स्वरूप के प्रति गतिमान नहीं होता। स्वरूप के प्रति गतिमान हुआ पुरुषार्थ का, अत्यंत पुरुषार्थ का जो पराक्रम है इस पराक्रम के द्वारा चल स्वभावरूप परिणाम धारा की दृष्टि का अभाव होता है। यानी आत्यंतिक वियोग होता है। यानी यहाँ संपूर्णरूप से पर्यायदृष्टि का नाश होता है।

ऐसा करके, `**परम शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोग से सकलंक परिणाम प्रदर्शित करता है उससे उपरत होकर, जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये उस उपयोग में और उस स्वरूप में स्थिर हुआ जाये, अचल हुआ जाये, वही लक्ष्य, वही भावना, वहीं चिंतन और वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना योग्य**

है।' इस प्रकार से पर्यायदृष्टि छोड़कर आत्मा मूल स्वरूप से परम शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय है (उसकी दृष्टि होती है)।

८३३ पत्रांक में यह बात ली है कि, आत्मा कैसा है ? कि, शुद्ध, शुद्ध प्रकृष्ट शुद्ध यानी कि त्रिकाल परिपूर्ण पवित्र है। तीन बार तो `शुद्ध' शब्द का प्रयोग किया है ! शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध आत्मा है ! `कृपालुदेव' ने आत्मस्वरूप की भावना भायी है। वहाँ ये तीन शब्द लिये हैं।

यानी परम पवित्र और चैतन्यस्वभाव के प्रकाशमय वह आत्मा है। अनादि से कर्म के संयोग से उदय के आश्रय से परिणमन करते हुए परिणामों में वह सकलंकपना प्रगट करता है, दर्शाता है। कषाय का कलंक उत्पन्न होता है वह अफने शुद्ध चैतन्यस्वभाव प्रकाशमय आत्मा के लक्ष्य से उससे उपरत होकर, `उपरत होकर' यानी विराम पाकर। जैसे कोई व्यक्ति चलते-चलते थक जाये तो उसे बैठना पड़ता है या सो जाना पड़ता है। खड़ा भी नहीं रह सकता। इस प्रकार परिणाम की आकुलता चलते... चलते... चलते... चलते... इस आकुलता से यदि थकान लगे तो सहज ही इस आकुलता से विराम लेगा। उपरत होना यानी विराम पाना।

जब तक जीव को आकुलता की थकान न लगे तब तक विकल्प की उछल-कूद बंध होना संभव नहीं। तब तक विकल्प जो सतत धारावाहीरूप से चालू हैं वे विकल्प शांत नहीं होंगे। सहजरूप से, सहज स्वभाव से विकल्प कब शांत हों ? कि, इन विकल्पों में रही आकुलता की थकान लगे तब। एक प्श्न पूछने जैसा है। कोई व्यक्ति को ऐसा कहा जाये कि, `तुम सारे दिन कूदते रहो !' तो थोड़े मिनटों में थक जायेगा। घन्टों तक तो कोई कूद नहीं सकेगा परंतु प्रयोग करना हो उसे करके देख

लेना कि पाँच-पंद्रह मिनट, पच्चीस-पचास मिनट में तो थक जायेगा। (ऐसा कह देगा) `अब मैं कूद नहीं सकता।' यह आत्मा अनादि से - अनंत काल से विकल्प की उछल-कूद कर रहा है। इसकी थकान क्यों नहीं लगती ? यहाँ से वहाँ... यहाँ से वहाँ... यहाँ से वहाँ... यहाँ से वहाँ... (उसके विकल्प दौड़ते हैं उसकी) थकान लगनी चाहिए।

यद्यपि अनंत काल से इस स्थिति में होने के बावजूद और इसी स्थिति में अनंत दुःख भोगने के बावजूद भी थकान को सहज करने की जीव की स्थिति भी अनंत है ! यहाँ से भी यदि जीव की शक्ति और सामर्थ्य पर लक्ष्य जाये तो इसके अनंत सामर्थ्य का विश्वास आए ऐसा है कि, उसकी दुःख सहन करने की शक्ति भी अनंत है ! सागरोपम तक नारकी की पीड़ा का दुःख भोगा है और अनंत काल तक निगोद के दुःख भी परिभ्रमण करते हुए प्रत्येक जीव ने भोगा है। और अभी भी एक सैकैन्ड़ के लिए विकल्प उपशम नहीं होता, एक सैकैन्ड भी विकल्प बंध नहीं रहता और सतत आकुलता भोगता है फिर भी, मूल स्वरूप में भरी जो अनंत शांति, यह शांति ऐसी की ऐसी - जरा भी इसमें घटाव आये बिना अनंत शांति का स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है। ऐसे पदार्थ की शक्ति कितनी ! शांति को टिकने की शक्ति कितनी ! और अवस्था में इतने दुःख होने के बावजूद और दुखद अवस्था में तदाकार - एकाकार - तन्मय होने के बावजूद और अपने शांतस्वरूप को सर्वांशे भूलने के बावजूद भी यह दुःख सहन करने की भी उसकी शक्ति अनंत है ! यूँ ही अनंत काल चला जाता है।

अब, जिसे दुःख से छूटना हो उसे इन सकलंक परिणामों से उपरत होकर, इससे थक कर `**जिस प्रकार उपशमित हुआ**

जाये,...' `उपशम होना' यानी जैसे शांति में जम जाना। शांतस्वरूप में शांत परिणाम से, शांत भाव से स्थिर हो जाना इसे यहाँ `उपशमित हुआ जाये' ऐसा कहते हैं। ऐसा होने की महात्माओं की शिक्षा है। अंतिम वचन इतना है। `महात्माओं की वारंवार यही शिक्षा है। ' कि, हे जीव ! तू तेरे में रही आत्मशांति को भोग ! इस आकुलता को भोगना तुझे योग्य नहीं है। तुझे पसंद भी नहीं है। परंतु रास्ता अनजाना होने के कारण तू शांति के रास्ते पर नहीं चल पाता है।

`**जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये,...**' `जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये' संक्षेप में इसलिए लिखना पड़ता है कि, यह उपशम होने की स्थिति आए इसके पहले का जितना क्रम है उसी क्रम से चलना पड़े। एक परिभ्रमण की चिंता से लेकर इस चिंता से उत्पन्न हुआ वैराग्य से लेकर और पूर्णता के लक्ष्य से शुरूआत करके जितना आगे का क्रम है उस ही क्रम से अनुसरण का पालन हो, चाहे जैसे भी उसका अनुसरण हो, तब ही उपशम होने का अवसर आएगा। (इसलिए ऐसा कहा कि) `**जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये,...**' वैसे। `जिस प्रकार' यानी चाहे जैसे नहीं। इसका भी एक नियत क्रम है और तद्नुसार (उसका अनुसरण करना पड़े)।

इसी क्रम में चलने के लिए भी `कृपालुदेव' के वचनामृत में १५७ में अंक में ड़ायरी का एक अंश है। यह अंश पर ध्यान देने जैसा है। पृष्ठ है - २३८। तेरह नंबर के विभाग में पैराग्राफ शुरूहोता है वहाँ से है। ऊपर की पाँच पंक्ति छोड़कर। `**भले तुझे विषम लगे,...**' कैसा लगे ? सहन न हो ऐसा विषम लगे। `**परंतु इसी क्रम में प्रवृत्ति कर,...**' `क्रम' के ऊपर कितना वजन है !! `**भले तुझे विषम लगे, परंतु इसी क्रम में प्रवृत्ति कर। अवश्य**

ही इसी क्रम में प्रवृत्ति कर।' (अर्थात्) अवश्य, चाहे जैसे। क्रम छोड़कर प्रवृत्ति मत करना। क्रम छोड़कर चाहे कितनी भी पूजा, भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय और क्रियाकांड (की) प्रवृत्ति करेगा (तो भी वह) निष्फल जाएगी। `वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो, बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे' ऐसा क्यों कहा ? कि, जो सद्गुरु हैं उन्होंने, उसी क्रम से सिद्धि प्राप्त की है। जिन्होंने शांति उपलब्ध की है, जिन्हें आत्मानंद की उपलब्धि हुई है, ऐसे ज्ञानीपुरुष ही इस क्रम को समझते हैं। इस क्रम से वे अनुभव सिद्ध ऐसी शांति को प्राप्त हुए हैं। और किसी भी योग्यतावान मुमुक्षु जीव को इस क्रम में कैसे लाना और इस क्रम में किस तरह आगे ले जाना, ऐसी निपुणता, ऐसी कुशलता आत्मज्ञानी सत्पुरुष में और सद्गुरु में होती है।

जैसे किसी रोग का Expert डॉकटर हो वह चाहे किसी भी Stage में आए हुए रोग को ठीक करना जानता है और तंदुरस्ती में ले आए तो वह डॉकटर सच्चा। यदि रोग को नहीं मिटाए तो वह डॉकटर, डॉकटर की जगह उचित नहीं। हालाँकि इस दृष्टांत में तो निष्फलता भी मिले। यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ सत्पुरुष के पास - ज्ञानीपुरुष के पास कोई जीव अंतर की भावना से अगर आत्मकल्याण हेतु आए और श्रीगुरु उसे क्रम से आगे ले चले उसका आत्मकल्याण नहीं हो ऐसा नहीं बनता। यहाँ निष्फलता का अवकाश नहीं है। क्योंकि उपादान की तैयारी है और मार्ग प्राप्त ज्ञानीपुरुष इस मार्ग को समझा सकते हैं, इस मार्ग को दिखा सकते हैं। दिखा सकते हैं इतना ही नहीं परंतु हाथ पकड़कर मार्ग में खींच सकते हैं ! परंतु जो खींचने के लिए तैयार हो उसे। जो खुद ही खींचने के लिए तैयार नहीं हो उसका तो उपया नहीं

है।

वास्तविक रूप से ऐसा प्रसंग बने तब उस जीव को ऐसा ही अनुभव होता है कि, मैं एक, जैसे कोई आदमी पानी के प्रवाह में खींचा जा रहा है वैसे संसार समुद्र की आकुलता के दुःख के प्रवाह में जो जीव डूब रहा था - खींचा जा रहा था, उसे ऐसा लगेगा कि हाथ पकड़कर मुझे किनारे पर रख दिया ! ऐसा उसे भास होता है। इस प्रकार क्रम में ले आते हैं। इस क्रम से जो बेखबर हैं उन्हें तो इस क्रम से जब खुद ही बेखर हैं तो दूसरे को तो कहाँ से ले जाये ?

(यहाँ कहते हैं) `**अवश्य ही इसी क्रम में प्रवृत्ति कर। दुःख को सहन करके,...**' यानी किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता को सहन करके, `**क्रम की रक्षा के परिषह को सहन करके,...**' क्रम से चलने में तुझे कठिनाई लगे तो उसे भी सहन करके (ऐसा कहते हैं)। तुझे तेरी प्रकृतिस्वभाव में अनुकूल नहीं लगता हो तो भी उसे सहन करके। `मुझे नहीं सुहाता' यह (बात) यहाँ नहीं चलती। तेरा सुहाना नहीं सुहाना इसे एक तरफ रख ! `मेरी तो ऐसी आदत है और इस तरह सोचने की मेरी आदत है या ऐसे पढ़ने की मुझे आदत है' - यह भी नहीं चलता। जिस तरह तुझे क्रम से चलने के लिए कहा जाये उस क्रम से चलना। अगर तुझे कठिन पड़े, असह्य परिस्थिति लगे तो उसे भी सहन करके (ऐसा कहते हैं)।

`**अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग को सहन करके...**' अनुकूलता भी उपसर्ग है हँ ! देखो ! दो बातें ली हैं। अनुकूल उपसर्ग और प्रतिकूल उपसर्ग को सहन करके। वैसे तो क्या है, हम लोग गलत समझते हैं, अपना Misconcept है (कि), प्रतिकूलता है वह उपसर्ग है इसलिए प्रतिकूलता को हमलोग नहीं चाहते जबकि अनुकूलता

की हमेशा-हमेशा इच्छा करते हैं। परंतु यह जीव भूल जाता है कि, सबसे ज्याादा फँसने का स्थान अनुकूलता में है। दुःख में आत्म कल्याण को याद करना बहुत आसान है (परंतु) अनुकूलता हो तब आत्म कल्याण का स्मरण करना, उसमें सावधान होना यह बहुत कठिन है।

आत्मार्थी तो प्रतिकूलता की इच्छा करता है ! अनुकूलता की इच्छा तो नहीं करता बल्कि प्रतिकूलता की इच्छा करता है ! और प्रतिकूल संयोग में - प्रतिकूल परिस्थिति में आत्मार्थ को साधना यह आत्मार्थी का गौरव है ! वास्तव में यह इसका गौरव है। प्रतिकूल संयोग मुख्यरूप से पाप के उदयकाल में होते हैं। अनुकूल संयोग पुण्य के उदयकाल में होते हैं। अनादि से भ्रांति में रहा जीव पुण्य की इच्छा करता है, पुण्य के फल की इच्छा करता है कि, `मुझे इसमें ठीक रहेगा !' आत्मार्थी की बात अलग है। वह तो कोई भी परिस्थिति में फ़ँसे बिना `**तू अचल रह।**' तेरे क्रममें से तू विचलित मत होना, ऐसा कहना है।

`**अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग को सहन करके तू अचल रह,**' यानी चाहे जैसे ललताऊ पुण्य के प्रसंग, पुण्य के उदय आयें तो भी इन्हें उपसर्ग समझकर तेरे क्रम से ही चलना। आत्मा उन्नति का प्रशस्त क्रम कभी नहीं छोड़ना। यह आत्म उन्नति का प्रशस्त क्रम है। इसमें अचलित रहना। `**अभी कदाचित् अधिकार विषम,...**' लगेंगा, तुझे नहीं सुहायेगा। कभी इस रास्ते पर चला नहीं, इस रास्ते पर चढ़ा नहीं इसलिए तुझे विषम लगेगा। `**अधिकतर विषम लगेगा,...**' कदाचित् बहुत विषम लगेगा। तुझे ऐसा लगेगा कि, `इसमें मेरा काम नहीं ! मैं नहीं कर सकूँगा !' ऐसे घबराने की जरूरत नहीं। `**परंतु परिणाम में वह विषम सम हो जायेगा।**' देखो !

कैसा Aletration लिया है ! `व' हटा दिया ! `काठियावाड़ी' भाषा है न ! `समुसुतर उतर्यु बधुं ?' ऐसा कहते हैं न ! (ऐसा यहाँ कहते हैं) तुझे यह विषम सम हो जाएगा। अभी भले ही तुझे विषम लगे परंतु विषम है यह सम होगा।

`**घेरे में तू मत फँसना।**' शायद मान-सन्मान मिले, बहुत अनुकूल संयोग मिले (तो भी) इस घेरे में तू मत फँसना। `**बार-बार कहता हूँ मत फँसना।**' नहीं तो दुःखी हो जाएगा। `**दुःखी होगा, पश्चाताप करेगा;...**' पश्चाताप करने की नौबत आएगी। `**इसकी अपेक्षा,...**' ऐसा (पश्चाताप) करना पड़े इसके बजाय `**अभी से इन वनचों को हृदय में उतार,...**' अभी से ही इस बात को अंदर में उतार कि, `मुझे क्रम से आगे नहीं बढ़ सकूँगा !' यह बात लक्ष्यमें से कभी हटती नहीं चाहिए। चाहे जब, चाहे जो पढ़ने लगे, चाहे जो शास्त्र पढ़ें (ऐसा नहीं चलता)। (उस रास्ते पर) जितना आगे बढ़ूँगा, दूर जाऊँगा उतना पीछे आने में परिश्रम बढ़ेगा। पीछे आना विषम और कठिन लगेगा और एक नई दीक्कत खड़ी होगी। ऐसा न हो इसके लिए यह बात है।

`**इन वचनों को हृदय में उतार - प्रीतिपूर्वक उतार।**' उत्साह लाकर ज्ञानी के मार्ग पर चल ! नहीं तो सारा परिश्रम व्यर्थ जायेगा, इतना ही नहीं, और तो और आपत्ति का कारण होगा। बहुत-सी बातों का मार्गदर्शन जगह-जगह पर दिया है।

यहाँ (चलते विषय में) भी ऐसा कहते हैं कि, `**जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये,...**' (वचन का) टुकड़ा तो छोटा है। (ऐसा कहते हैं कि) जैसे आत्मस्वरूप में शांतभाव से स्थिर हो सके। तो `जिस प्रकार' माने कैसे ? `जिस प्रकार' का अर्थ क्या ? कि, जिस क्रम से प्रवेश करके आत्मशांति तक पहुँचा जाये उस क्रम

से। इसमें दूसरा प्रकार नहीं चलता। सीरा, सीरे की रीत से ही बनता है, सीरा दूसरी तरह से नहीं बन सकता। `**उस उपयोग में,...**' यानी उस प्रकार की सावधानी में `**और उस स्वरूप में स्थिर हुआ जाये,...**' उपयोग स्वरूप में स्थिर हो, अनंत गुणों के परिणाम अनंत सुखधाम ऐसे आत्मा में आकर्षित होकर केन्द्रित हो और `**अचल हुआ जाय,...**' (यानी) स्थिर हुआ जाये `**वही लक्ष,...**' करने योग्य है। लक्ष्य यानी ज्ञान में उसी प्रकार आना चाहिए कि जिसका स्मरण भी करना नहीं पड़े। लक्ष्य का अर्थ ऐसा है।

जैसे व्यापारी को व्यापार में कमाने का लक्ष्य है। उसका स्मरण नहीं करना पड़ता है कि, मुझे नुकसान नहीं करना है और कमाई करनी है। ऐसा विचार नहीं करना पड़ता, इसे याद नहीं करना पड़ता। नहीं तो भूल जाए ऐसा नहीं होता। चाहे जो प्रवृत्ति करे - माल खरीदने जाये या माल बेचने जाये, हिसब-किताब लिखाता हो या मूड़ी की व्यवस्था करता हो, जब कि कारखाना हो तो दूसरी छप्पन बातें भी हों। (सभी प्रवृत्ति में) लक्ष्य एक ही रहता है कि, इसमें से कमाना है और खोना नहीं है।

वैसे (यहाँ) इसी बात का लक्ष्य हो जाना चाहिए। यानी कि, इसका स्मरण करना पड़े ऐसा भी स्थिति न हो इस प्रकार ज्ञान में यह बात घर कर जानी चाहिए। `**वही भावना,...**' निरंतर रहनी चाहिए। और विकल्प आए तो `**कहीं चिंतन,...**' होना चाहिए। और वैसा होने पर `**वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना योग्य है।**' और इस प्रकार सहज-सहज ऐसे ही परिणाम रहें, कृत्रिमता नहीं करनी पड़े, खींचा तानी करके जबरदस्ती करना पड़े उस कार्य में कभी प्रेम और उत्साह नहीं होता। यहाँ वैसा प्रकार होना तो उचित नहीं है।

सहज परिणामरूप स्वभाव हो जाना चाहिए। स्वसत्ता अवलंबनशील परिणाम हो जाना चाहिए। देखो ! परसत्ता अवलंबनशील परिणमन सहज सहज चलता है कि नहीं ? वर्तता है कि नहीं ? कि, इसका कृत्रिम पुरुषार्थ करना पड़ता है ? सहज ही इस तरह का पुरुषार्थ है। क्यों ? (क्योंकि) परपदार्थ की आधारबुद्धि है और परपदार्थ में सुखबुद्धि है। इसीलिए ऐसे परिणाम सहजरूप से परसत्ता का अवलंबन ले ऐसा इसका स्वभाव हो जाता है। `शील' यानी स्वभाव।

इस प्रकार छूटकर, इस प्रकार से निवृत्त होकर अपने अनंत सुखधाम में सभी गुणों के परिणाम आकर्षित हों, अनंत-अनंत गुणों के परिणाम (आकर्षित हों) और स्वसत्ताअवलंबनशीलपना प्रगट हो उसे `सहज परिणामरूप स्वभाव' कहा जाता है। यहाँ द्रव्यस्वभाव की बात नहीं है। सहज परिणामरूप स्वभाव होना चाहिये, यही कर्तव्य है।

सभी `**महात्माओं की वारंवार यही शिक्षा है।**' अनंत ज्ञानियों का, नाम लेकर कोई भी ज्ञानी की बात लें तो भी अनंत ज्ञानियों की एक ही बात है, ऐसा आत्मा में अवधारण करना। क्योंकि सर्व ज्ञानी `**महात्माओं की वारंवार यही शिक्षा है।**'

अब आत्मार्थी जीव की बात करते हैं। `**उस सन्मार्ग की गवेषणा करते हुए...**' ऐसे सन्मार्ग की गवेषणा करते हुए - `गवेषणा करना' यानी ? गवेषणा में बहुत Particular sense है। वैसे तो ज्ञान प्रधान बात है। `गवेषण' यानी जानना। परंतु `जानना' शब्द इस्तेमाल करने के बजाय `कृपालुदेव' ने अनेक जगह `गवेषणा' शब्द का प्रयोग किया है। (इसका अर्थ यह है कि) अंतर खोज पूर्वक अंतर शोध पूर्वक जिसका ज्ञान होता है उसे `गवेषणा' कहते हैं। इसमें गहराई होती है। विशालता हो, या न हो, परंतु इसके अंदर तात्त्विक गहराई

रही होती है। ऐसे सन्मार्ग की गवेषणा करते हुए यानी शोध करके जानते हुए `**प्रतीत करने की इच्छा करते हुए,...**' आत्मार्थी कैसा होता है उसका वर्णन चलता है।

ऐसे सन्मार्ग की गवेषणा करते हुए, ऐसे सन्मार्ग की प्रतीति करने की इच्छा करते हुए और `**उसे संप्राप्त करने की इच्छा करेत हुए,...**' इसकी प्राप्ति करने की इच्छा करते हुए `**ऐसे आत्मार्थी जन को परम वीतरागस्वरूप देव, स्वरूप नैष्ठिक निःस्पृह निर्ग्रंथ रूप गुरु, परमदयामूल धर्मव्यवहार और परमशांतरस रहस्य वाक्यमय सत्शास्त्र, सन्मार्ग की संपूर्णता होने तक परम भक्ति से उपासनीय है;...**' कितना सुंदर मार्ग - दर्शन दिया है ! आत्मा की सुख-शांति का सन्मार्ग, इस सन्मार्ग की गवेषणा करते हुए ऐसे आत्मार्थी जन को, प्रतीति करने का इच्छुक आत्मार्थी जन को, क्योंकि तभी तो आत्मार्थी है। प्रतीति हो वह ज्ञानी होता है। और उसे संप्राप्त करने की इच्छा करने वाला, प्राप्ति का इच्छुक ऐसा आत्मार्थी जन। यहाँ पर `इच्छा' का अर्थ ऊपर-ऊपर की इच्छा होती है ऐसा नहीं लेना। अंतर की भावना से उत्पन्न हुई इच्छा लेना। और यह इच्छा पूर्ण न हो तब तक वह जीव ना तो अनुकूलता में फँसता है और ना ही प्रतिकूलता में दुःखी होता है और फँसता है।

`**ऐसे आत्मार्थी जन को परमवीतरागस्वरूप देव,...**' कैसे देव लिए ? भक्ति के लिए देव, गुरु, धर्म और शास्त्र (ऐसे) चार पद लिए हैं। सत्पुरुष की भक्ति तो उन्होंने जगह-जगह पर स्थापित की है। यहाँ चार पद लिए हैं। `परमवीतरागस्वरूप देव' (यानी) जिस देव को अनंतवें अंश में भी राग का सद्भाव नहीं और उसके कारण राग की कोई क्रिया या राग हो ऐसा कोई लक्षण आंतर-बाह्य जिनके स्वरूप में नहीं है। अंतरंग में तो नहीं परंतु

बाहर में भी ऐसा प्रकार और ऐसा दिखाव नहीं हो कि जो रागवर्धक हो, राग का उत्पादक हो।

अभी पिछले २५०० वर्ष से ऐसे वीतराग देवरूप सजीवन मूर्ति का काल समाप्त हो गया है। केवलज्ञानी परमात्मा की विद्यमानता पिछले २५०० वर्ष से बंद है। हालाँकि उनके जैसी ही जिनप्रतिमा की स्थापना है। कि जिस जिन प्रतिमा में अनंत वीतरागता, छलकती वीतरागता दिखाई देती है। उनकी परम शांतता - उनकी जो अनंत शांति है यह भी अच्छी तरह प्रदर्शित होती है। इनके परिणमन की निरवशेष अंतर्मुखता भी दर्शन करते ही सुप्रतीत हो ऐसा है। और इनके ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमयपना भी अवलोकन करने जैसा है अवलोकन में नहीं आता हो तो।

अवलोकन करना माने क्या ? विचारना नहीं। अवलोकन करना यानी Visualise करना, इसका Vision आना चाहिए। इसका नाम `जिनेन्द्र दर्शन' है। ये परमवीतरागस्वरूप देव हैं। `वंदे तद् गुण लब्धये' (अर्थात्) उनके वैसे ही गुणों की अपने आत्मा में प्राप्ति यानी प्रगट हो उस हेतु से उनकी भक्ति और वंदना करते हैं। यह परमवीतरागस्वरूप देव (के विषय में स्पष्टीकरण है)।

(अब कहते हैं) `**स्वरूप नैष्ठिक निःस्पृह निर्ग्रंथ रूप गुरु,...**' गुरु कैसे होने चाहिए ? कि जिन्हें आंतरबाह्य ग्रंथि न हो। अंदर में मोह आदि विभावपरिणामों की ग्रंथि न हों और बाहर में सर्व प्रकार के सर्वसंगपरित्यागी भावलिंगी दिगंबर निर्ग्रंथ गुरु हों कि जो अपने स्वरूप में नैष्ठिक यानी स्थिर हुए हों। स्वरूपनिष्ठ (यानी) स्वरूप में स्थिर हुए हों। और जिन्हें एक परमाणु मात्र की भी स्पृहा न हो।

देखो ! यह वीतराग परमात्मा का मार्ग जो है, यह इस प्रकार

का है कि जिस मार्ग पर चलने वाला कभी किसी पर बोझारूप नहीं बनता। मार्ग पर चलने वाले चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्दृष्टि से लेकर निर्ग्रंथ गुरु छद्मस्थ अवस्था तक मार्ग पर चलने वाले हैं। इसमें सातवें गुणस्थान में बारहवें गुणस्थान तक तो निर्विकल्प दशा है। यानी कोई बाह्य प्रवृत्ति और बाह्य प्रकार वहाँ नहीं है। चौथे-पाँचवें (गुणस्थानवर्ती) गृहस्थ ज्ञानी भी, कभी किसी की स्पृहा में नहीं आते, कभी किसी की स्पृहा नहीं रखते। कोई भी प्रकार की स्पृहा हो तब तक ज्ञान दशा नहीं होती। और छट्ठे गुणस्थान से सर्वसंगपरित्यागी होते हैं। और देह को आहार-पानी की अल्प आवश्यकता है। एक वक्त आहार-पानी (यह भी) क्वचित्, रोज़ लें ऐसे कोई बंधे हुए नहीं हैं। तो भी इसकी वांधा या इसकी याचना जिन्हें नहीं है। यानी इसकी स्पृहा नहीं है, स्पृहा नहीं होने से `उद्देशिक आहार' लेते नहीं। उनके निमित्त से किसी भी तरह से की आहार की व्यवस्था की हो उसे मुनिराज नहीं लेते। प्राण जाय तो भी उद्देशिक आधाकर्म आहार छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज नहीं लेते।

जो स्वयं तो आरंभ-समारंभ से निवृत्त हुए हैं परंतु अपने निमित्त से दूसरी कोई व्यवस्था (भी) नहीं स्वीकार करते। यानी समाज के ऊपर (या) किसी के ऊपर बोझा बनने का सवाल ही नहीं। और कोई पहले से - In advance privision रखे तो इसका वे स्वीकार नहीं करते। `हमारे लिए निषेध्य है !' ऐसे निस्पृह होते हैं। स्वरूपनैष्ठिक निस्पृह निर्ग्रंथरूप गुरु - उनकी भक्ति करने योग्य है। यहाँ वही बात है। जब तक सन्मार्ग की संपूर्णता न हो तब तक। यानी जब तक साधन की विकल्प दशा रहे तब तक।

स्वरूपनैष्ठिक निःस्पृह निर्ग्रंथरूप गुरु होते हैं और सजीवनमूर्ति

ऐसे ज्ञानीपुरुष हो तो वे भी निस्पृह ही होते हैं। स्पृहा रखें, अपेक्षा रखे, वे ज्ञानी नहीं और ज्ञानी हों उन्हें स्पृहा नहीं होती। ऐसे निर्ग्रंथ गुरु (होते हैं)।

`**परमदयामूल धर्मव्यवहार,...**' जो करुणा के सागर हैं। `करुणासिंधु अपार !' कोई भी प्रकार का भेदभाव रखें बिना। `यह मेरा भक्त है क्योंकि मेरी स्तुति करता है, मेरे से अनुकूल वर्तता है इसलिए मेरा है' ऐसा जो कभी देखते नहीं, ऐसा भेद जिसे नहीं है। `प्रतिकूल वर्तता है, प्रतिपक्ष में निंदा करता है इसलिए मेरा नहीं है' ऐसा भेद नहीं रखते। `सत्पुरुष का योग बल जगत का कल्याण करो !' `कृपालुदेव' का वचनामृत है ना ! जगत में कौन बाकी रहा ? अनुकूल भक्तजण हो इतना जगत और बाकी प्रतिकूल रहें वह जगत नहीं - ऐसा है जगत ? अरे...! जगत में तो भव्य-अभव्य सभी आ जाते हैं। ऐसी जिनकी विशाल दृष्टि है। अतः परमदयामूल जिनका धर्म - धर्मव्यवहार (है)। `परमदयामूल धर्म' नहीं लिया (परंतु) `धर्मव्यवहार' लिया। जिनका व्यवहार धर्म भी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत कोई भी प्राणी को मन से, वचन से, काया से, करना, कराना (या) अनुमोदना से किंचित मात्र भी दुःख न हो, ऐसा परमदयामूल धर्मव्यवहार (है), यह भी परम भक्ति सहित उपासनीय है।

अब सत्शास्त्र की परिभाषा करते हैं। सत्शास्त्र कैसे (कि) जिनकी उपासना और भक्ति करनी चाहिए ? `**परमशांतरस रहस्य-वाक्यमय,...**' हो वैसे। जिसके वाक्यों में - वचनों में - कथनों में परम शांत रस प्रगट हो ऐसा रहस्य भरा है। रहस्य यानी Secret ! ऊपर-ऊपर से पढ़ें तो समझ में नहीं आए। परंतु इसका रहस्य पकड़ने की योग्यता हो तो, इसे पकड़ने वाले को, अपने परमशांत रस

का प्राकटय, प्रकटरूप से अनुभवगोचर होता है। ऐसा जिन वचनों से - जिन वाक्यों में निमित्तत्व रहा है, ऐसा दैवत रहा है, लो ठीक !

शास्त्रवचन में ऐसा दैवत रहा है। और इसका सबूत ढूँढ़ने जाना पड़े ऐसा नहीं है। यह वचनामृत ग्रंथ स्वयं ही इसका सबूत है। इन वचनों में ऐसा दैवत रहा है, ऐसी ताकत है ! `दैवत' काठियावाड़ी शब्द है। ये वचन आत्मा के परम शांत रस के रहस्य के संग्रहभूत हैं। और यदि योग्यता हो तो आत्मा इसमें से अपने स्वभाव के शांतरस को प्रकट कर सकता है।

ऐसे सत्शास्त्र, आत्मार्थी जीव को सन्मार्ग की संपूर्णता न हो तब तक `**परम भक्ति से उपासनीय है,...**' अत्यंत भक्ति से उपासनीय है। देव, गुरु, धर्म और शास्त्र की पहचान होनी चाहिए, तो सच्ची भक्ति आए। पहचान हो तो सच्ची भक्ति आए। सच्ची भक्ति आए यानी परम भक्ति आए। ओघे-ओघे ऐसी परम भक्ति नहीं आती पहचान से जो रस आए और पहचान से महिमापूर्वक जो रस आए, इसके बिना पहचान भी ऊपर-ऊपर से नहीं आ सकती। यह वस्तुस्थिति है। अतः (सिर्फ) देव, गुरु, शास्त्र शब्द नहीं लिया। इनके स्वरूप का निर्देश कर-करके देव, गुरु, शास्त्र की बात की है। (अतः) परम भक्ति से उपासनीय है।

`**जो आत्मा के कल्याण के परम कारण हैं।**' अथवा आत्मकल्याण में ये परम निमित्तभूत हो ऐसे हैं। ऐसा निमित्तत्व वहाँ रहा है। यह इनका धर्म है। `**यहाँ एक स्मरण - संप्राप्त गाथा लिखकर यहाँ इस पत्र को संक्षिप्त करते हैं।**' एक गाथा का स्मरण आया है और अभी इस स्मरण संप्राप्त हुआ है। देखो ! सहजता ! यह गाथा लिखकर इस पत्र को पूरा करते हैं।

`भीसण नरयगाईए, तिरियगाईए कुदेवमणुयगईए।
पत्तोसि तिव्व दुःखं, भावहि जिणभावणा जीव।।'

भयंकर नरक गति में, तिर्यंचगति में और बुरी देव तथा मनुष्य गति में हे जीव ! तू तीव्र दुःख को प्राप्त हुआ,...' देव गति में भी तीव्र दुःख पाया ! ऐसा कहते हैं। बुरी देवगति (कही) ! यह भूत-व्यंतर होते हैं ना ! भूत-प्रेत ये सभी बुरी देवगति हैं। वे जीव बहुत दुःखी होते हैं। जो मज़ाक करता है - नहीं कहते ? भूताविष हो गया ! हालाँकि प्रवेश (कोई) नहीं करता परंतु ऐसी हलकी जाति के देव भटकते हैं। जैसे हलकी जाति के मनुष्य होते हैं - जो ढेढ़, भंगी, चमार वगैरे जाति में वे लोग मरे हुए ढोर को काटते (हो) और इस प्रकार जो चमड़े का व्यवसाय करते हैं, उनका आयुष्य इसी प्रवृत्ति में ही पूरा होता है। अनंत-अनंत जीवों की हिंसा युक्त प्रवृत्ति के व्यवसाय में ही इतना अमूल्य मनुष्य भव पूरा हो जाता है। इस तरह ऐसी बुरी गति को प्राप्त हुए (देव बहुत दुःखी होते हैं)। ऊँची गति में तो सम्यक्दृष्टि देव जाते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव, देव होकर बुरी गति में जाते हैं। बुरी गति में नीचे भी जाते हैं, व्यंतर, ज्योतिष और (भवनवासी) पहली नरक में जाते हैं। इन सब बुरी (देव)गति में तथा बुरी मनुष्यगति में हे जीव ! तूने दुःख पाया, बहुत दुःख पाया।

`इसलिए अब तो जिन-भावना (जिन भगवान जिस परम शांत रस में परिणम कर स्वरूपस्थ हुए, उस परमशांतस्वरूप चिंतन) का भावन-चिंतन,...'** इस भावना की तू चिंतन कर, यही भावना तुम भाना। जिन भावना भाना ! जैसे जिनेश्वर देव हैं वैसे ही होने की भावना कर, वैसा ही चिंतना कर। `(कि जिससे वैसी अनंत दुःखों का आत्यंतिक वियोग होकर परम अव्याबाध सुख संपत्ति संप्राप्त**

हो।)' इस भावना को ऐसे भाना, इतनी हद तक भावना कर भावना कर कि जिससे इन सभी दुःखों का सर्वथा क्षय हो जाए और अपने परम अव्याबाध स्वरूप में रही सुखसंपत्ति की प्राप्ति हो, इस प्रकार इस गाथा में भावना भाने का उपदेश है।

इस प्रकार इस पत्र के अंदर बहुत महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन करके यह पत्र समाप्त किया है। `**ॐ शांतिः शांतिः शांतिः**'

वडवा, भादों सुदी १५, सोम, १९५२

आत्मा सच्चिदानंद

आत्मा सच्चिदानंद

ज्ञानापेक्षासे सर्वव्यापक, सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा एक हूँ, ऐसा विचार करना, ध्यान करना।

निर्मल, अत्यंत निर्मल, परमशुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।

सबको कम करते करते जो अबाध्य अनुभव रहता है वह आत्मा है।

जो सबको जानता है वह आत्मा है।

जो सब भावों को प्रकाशित करता है वह आत्मा है।

उपयोगमय आत्मा है।

अव्याबाध समाधिस्वरूप आत्मा है।

आत्मा है, आत्मा अत्यंत प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभव में है।

वह आत्मा नित्य है, अनुत्पन्न और अमिलनस्वरूप होनेसे।

भ्रांतिरूप से परभाव का कर्ता है।

उसके फल का भोक्ता है।

भान होनेपर स्वभावपरिणामी है।

सर्वथा स्वभावपरिणाम वह मोक्ष है।

सदगुरु, सत्संग, सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि उसके साधन हैं।

आत्मा के अस्तित्व से लेकर निर्वाण तक के पद सच्चे हैं, अत्यंत सच्चे हैं, क्योंकि प्रगट अनुभव में आते हैं।

भ्रांतिरूप से आत्मा परभाव का कर्ता होनेसे शुभाशुभ कर्म की उत्पत्ति होती है।

कर्म सफल होनेसे उस शुभाशुभ कर्म को आत्मा भोगता है।

उत्कृष्ट शुभ से उत्कृष्ट अशुभ तक के सर्व न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है।

निजस्वभावज्ञान में केवल उपयोग से, तन्मयाकार, सहजस्वभाव से, निर्विकल्परूप से आत्मा जो परिणमन करता है, वह केवलज्ञान है।

तथारूप प्रतीतिरूप से जो परिणमन करता है वह सम्यक्त्व है।

निरंतर वह प्रतीति रहा करे, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्वचित् मंद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विसर्जन, क्वचित् स्मरणरूप, ऐसी प्रतीति रहे उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

उस प्रतीति को जब तक सत्तागत आवरण उदय

में नहीं आया तब तक उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

आत्मा को जब आवरण उदय में आये तब वह उस प्रतीति से गिर पड़े उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं।

अत्यंत प्रतीति होनेके योग में सत्तागत पुद्गल का वेदन जहाँ रहा है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

तथारूप प्रतीति होनेपर अन्यभाव संबंधी अहंत्व-ममत्व आदिका, हर्ष-शोक का क्रमशः क्षय होता है।

मनरूपी योग में तारतम्यसहित जो कोई चारित्र की आराधना करता है वह सिद्धि पाता है। और जो स्वरूपस्थिरता का सेवन करता है वह स्वभावस्थिति प्राप्त करता है।

निरंतर स्वरूपलाभ, स्वरूपाकार उपयोग का परिणमन इत्यादि स्वभाव अंतराय कर्म के क्षय से प्रगट होते हैं।

जो केवल स्वभावपरिणामी ज्ञान है वह केवलज्ञान है... केवलज्ञान है।

प्रवचन - ५, दि. २१-१२-१९९५
पत्रांक-७१० (१)

(`श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत। पत्रांक-७१०) अपनी व्यक्तिगत नोंध है। नोट-बुक में कोई नोंध करे इस प्रकार की यह नोंध है। `**आत्मा सच्चिदानंद**' एक तरफ गुजराती में लिखा है। यही शब्द दूसरी तरफ `देवनागरी' लिपि में लिखा है। दाहिने हाथ की तरफ देवनागरी लिपि में लिखा है, बाँये हाथ की तरफ गुजराती में लिखा है।

`**ज्ञानापेक्षा से सर्वव्यापक, सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा एक हूँ, ऐसा विचार करना, ध्यान करना।**' `**ज्ञानापेक्षा से सर्वव्यापक**' यानी क्षेत्र की अपेक्षा से सर्वव्यापक नहीं। वेदांत में खास करके सांख्यमत में आत्मा परमब्रह्म विश्वव्यापक - सर्वव्यापक माना है, स्वीकार किया है। ऐसा सर्वव्यापकपना ज्ञान की अपेक्षा से है और यह बात तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि में प्रगट हुई है, प्रसिद्धि हुई है। इसमें समझने में गलती हुई तो क्षेत्र की अपेक्षा से भी सर्वव्यापक लेने में आया।

इसके पीछे उन लोगों का Logic ऐसा है कि, जीव को राग-द्वेष कब होते हैं ? कि, तेरा-मेरा करे तब। सब में एक ही आत्मा हो तो तेरा-मेरा करने की गुंजाईश कहाँ है ? जिसमें कि राग-द्वेष न हो। यह Logic है। परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुस्थिति से तो (प्रत्येक) आत्मा स्वदेह प्रमाण व्यापक है। क्षेत्र से तो जितना

शरीर का क्षेत्र है उतना ही आत्मा का क्षेत्र है। स्वदेह प्रमाण व्यापक है।

प्रश्न :- ज्ञान की अपेक्षा से सर्वव्यापक माने क्या ?

समाधान :- ज्ञान की अपेक्षा से सर्वव्यापक है इसमें भी मर्यादा इतनी है कि, ज्ञान गुण की पर्याय है वह भी स्वक्षेत्र छोड़कर तो कहीं जाती ही नहीं। सारे पर क्षेत्र में फैल जाये ऐसा नहीं है। परंतु प्रसरकर मानों जितना सुस्पष्टरूप से जाने इतना सुस्पष्टरूप से जानती है, यह सूचित करने के लिए सर्वव्यापक कहा जाता है।

फिरसे, जैसे पुद्गल परमाणु में ज्ञान प्रसर कर पुद्गल के सभी गुणधर्मों को मानो जान लेता हो इतना सुस्पष्ट पुद्गल परमाणु का ज्ञान होता है, इतना सुस्पष्ट ज्ञान होने से ज्ञान की अपेक्षा व्यापक कहा, परंतु क्षेत्र की अपेक्षा वहाँ प्रवेश नहीं है। शरीर के परमाणु में भी ज्ञान की अपेक्षा से प्रवेश नहीं है। फिर भी केवलज्ञान लोकालोक को इतना स्पष्ट जानता है कि मानो जैसे लोकालोक में प्रवेश करके जान लेता हो ! इतना बताने के लिए - इसकी प्रत्यक्षता और स्पष्टता को बताने के लिए ज्ञान को सर्वव्यापक कहा है। वास्तव में यदि ज्ञान गुण की पर्याय सभी जगह प्रसरिहत होती तो सभी गुणों की पर्याय प्रसरित होनी चाहिए। एक ही गुण की क्यों प्रसरित हो ? परंतु ज्ञान सभी को जानता है, ऐसा कहना है। यानी जानने की अपेक्षा (बात है) और समझाने की एक शैली है।

जैसे कि हम लोग यहाँ पहाड़ के ऊपर हैं और यहाँ से दस मील दूर या पचास मील दूर एक दूसरा पहाड़ भी दिखाई देता है। तो भ्राँति से ऐसा लगता है कि, `मेरा ज्ञान वहाँ जाकर

जानता है !' वास्तविकरूप से ज्ञान वहाँ नहीं जाता है। हम लोग जैसे हॉल में बैठे हैं और बाहर कोई आवाज़ हुई तो जैसे अपना उपयोग वहाँ गया, ऐसा लगता है। (तो क्या वास्तव में) उपयोग वहाँ गया है ? ज्ञान वहाँ नहीं जाता। अपने स्वक्षेत्र में रहकर, पर क्षेत्र संबंधित सुस्पष्ट ज्ञान होता है। परंतु भ्राँति से ऐसा लगता है कि जैसे ज्ञान वहाँ गया। मेरा उपयोग पचास मील (दूर) गया और पहाड़ को - पर्वत को जाना। वास्तव में ज्ञान स्वक्षेत्र में ही रहा है। स्वक्षेत्र में रहकर दूर क्षेत्रवर्ती पदार्थ को और दूर कालवर्ती पदार्थ को जानने की शक्तिज्ञान में है। परंतु भ्राँति से ऐसा समझ में आता है, इसलिए इनकी भाषा में ऐसे समझाते हैं। भ्राँति से ऐसा लगता है कि, मेरा उपयोग वहाँ गया। अतः इसकी (अज्ञानी जीव की) भाषा में समझाते हैं कि, सर्वव्यापकपना है। परंतु वास्तव में वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

प्रश्न :- वेदन की अपेक्षा से बात नहीं है।

समाधान :- वेदन की अपेक्षा से नहीं और जानने की अपेक्षा से भी नहीं। स्वक्षेत्र छोड़कर ज्ञान जाता ही नहीं है। ज्ञान गुण की पर्याय भी नहीं जाती और दूसरे कोई गुण की पर्याय भी नहीं जाती।

श्रोता :- प्रतिबिंब पड़ता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, और सुस्पष्ट। जैसे मानो वहाँ जाकर जान लें उतना स्पष्ट ! ऐसा केवलज्ञान का स्वरूप है वह ज्ञान की अपेक्षा वह सर्वव्यापक है। क्योंकि जैसे सर्वत्र प्रसरकर जाने ऐसा इसका स्वरूप है।

जैसे कि आप इधर हैं, और आपका उपयोग अपने घर में गया। तो क्या उपयोग वहाँ गया है क्या ? चीज़ तो सामने नहीं

है, इधर सामने तो घर नहीं है। फिर भी आप देखेंगे कि, इधर हमारा डाइनिंग टेबल है, यह हमारा किचन है, यह हमारा बैड़रूम है, कपड़े इधर हैं। मतलब कि ज्ञान में तो चीज़ सामने हो या नहीं हो, दूर क्षेत्रवर्ती, दूर कालवर्ती पदार्थ को यहाँ बैठे-बैठे अपने में रहकर उसे जान लेने की ताकत है, स्वभाव है। उस ताकत से - शक्ति से जानता है। अपनी निज शक्ति से उपादान से जानता है। ऐसी जानने की ताकत है !

उपयोग में परसत्ता का अवलंबन लिया इसे दूसरी भाषा में कहते हैं कि, उपयोग गया। उपयोग (वास्तव में) गया नहीं है। उपयोग तो जहाँ है वहीं रहा है।

प्रश्न :- भाईश्री ! जब स्वसत्ता का अवलंबन वर्तता हो तब परसत्ता का अवलंबन आ सकता है ?

समाधान :- Partly, सविकल्प दशा में (आंशिक अवलंबन आता है)। निर्विकल्प दशा में नहीं।

प्रश्न :- भाईश्री ! प्रवृत्ति के काल में उपयोग बाहर जाता है वह आंशिकरूप से जाता है कि पूर्णरूप से जाता है ?

समाधान :- उपयोग तो पूरा जाता है। लेकिन उपयोग जितना ही ज्ञान का पर्याय नहीं है। ज्ञान का पर्याय लब्ध - उपयोगात्मक है।

श्रोता :- लब्ध माने क्या ?

समाधान :- लब्ध माने प्राप्त। कुछ ज्ञान की हमें प्राप्ति है। जिसका अभाव नहीं होता। जैसे आप लोग रसोई बनाना जानते हैं। अभी आप शास्त्र स्वाध्याय कर रहे हैं, आपका उपयोग शास्त्र में लगा है। तो क्या आपका रसोई बनाने संबंधित ज्ञान का अभाव हो गया क्या ? अभाव नहीं होता। यह तो प्राप्त ज्ञान है, उसका

नाश नहीं होता। परंतु वह व्यापाररूप नहीं है। मुख्य-गौण की बात तो दूसरी है। लेकिन उस वक्त उसका व्यापार नहीं है। उपयोगात्मक Function व्यापार नहीं है, परंतु उस ज्ञान का अभाव नहीं हुआ।

दूसरा दृष्टांत लेते हैं। जैसे कि आप पढ़ रहे हैं कि, **`सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा एक हूँ'** आप ऐसा विचार करते हो। क्या विचार करते हो ? कि, मैं सच्चिदानंद ऐसा एक आत्मा हूँ। आपका उपयोग उस प्रकार चलता है। उस वक्त भी आपको ऐसा अनुभव नहीं हो रहा है। बराबर ? अनुभव में - वेदन में क्या हो रहा है ? कि, `मैं एक मनुष्य हूँ, या पुरुष हूँ, या स्त्री हूँ, या फ़लाँ-फ़लाँ या फ़लीं-फलीं हूँ।' यह लब्ध ज्ञान का परिणमन है। अज्ञान दशा में `मैं आत्मा हूँ' ऐसा विचार करने पर भी उपयोग में अनुभव नहीं हो रहा है, तो वह उपयोग गौण हो गया और लब्ध मुख्य हो गया।

ज्ञानी को `मैं एक आत्मा हूँ' ऐसा अनुभव होकर लब्ध ज्ञान होता है तो बाहर में अपने बेटे को प्यार से बुलाते वक्त ऐसा भी `क्या बेटा तुम खाना खाओगे ?' तो उस वक्त उनका उपयोग है कि, `यह मेरा बेटा और मैं उसका पिता' लेकिन वह उपयोग गौण है। `मैं आत्मा हूँ' वह मुख्य है। परंतु मुख्य-गौण की बात अलग है। (ज्ञान का) व्यापार ऐसे होता है। उपयोगात्मक व्यापर दूसरा होता है और लब्धज्ञान दूसरा होता है। दोनों मिलकर के एक पर्याय है। ज्ञान की पर्याय लब्ध-उपयोगात्मक होती है। ऐसी बात है।

श्रुतज्ञानी की जो पर्याय है यह लब्ध-उपयोगात्क होकर पूरी पर्याय है। यानी छद्मस्थ अवस्था में जब तक श्रुतज्ञान की पर्याय होती है तब तक उसके दो विभाग हैं। एक लब्ध का और एक

उपयोग का लब्ध यानी प्राप्त - Aquired knowledge और एक दूसरा उपयोगात्मक ज्ञान है कि जो अलग अलग विषयों को जानता है, जानने का व्यापार करता है, Funccton करता है।

(यहाँ) कहते हैं कि, `**सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा एक हूँ, ऐसा विचार करना,...**' त्रिकाल सत्। चिद् यानी ज्ञान, दर्शन स्वरूप और आनंदस्वरूप। अस्तित्वगुण लिया, चैतन्य गुण लिया और आनंदगुण लिया। तीन गुणों की बात की। ये तो तीन गुण (कहे परंतु) ऐसे तो अनंत गुमस्वरूपरूप हैं। परंतु तीन की मुख्यता ते ात्मा को नाम दिया `**सच्चिदानंद** !' सत् यानी हयाति, त्रिकाल हयाति। चिद्माने दर्शन, ज्ञानस्वरूप चैतन्य और आनंद माने आनंद। `**सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा एक हूँ...**' `**एक हूँ**' यानी अभेद हूँ। अखंड़ हूँ। `**ऐसा विचार करना, ध्यान करना।**' ध्यान करना।

(पुनः) कैसा है अपना आत्म स्वरूप ? (तो कहते हैं कि) `**निर्मल,...**' (है)। जिसमें रागादि भावों की कोई मलिनता नहीं है।

प्रश्न :- विचार और ध्यान को अलग-अलग किस तरह करना ?

समाधान :- ध्यान है वह एकाग्रतारूप है, लीनतारूप है। `उमास्वामी महाराज' ने ध्यान की परिभाषा - Definetion `तत्त्वार्थसूत्र' में की है। `**एकाग्र चिंता निरोधो ध्यानम्**' एकाग्र = एक+अग्र। एक विषय को मुख्य करके। अग्र यानी मुख्य करके। एकाग्र (यानी) एक विषय को मुख्य करके। `**चिंता निरोधो**' (यानी) अन्य सर्व प्रकार की चिंता और विकल्प का सहज बंद हो जाना, अटक जाना उसे निरोध कहते हैं। ऐसा जो परिणमन उसका नाम `ध्यान' (है)।

प्रश्न :- इसका मतलब तो अनुभव हो तो ही ध्यान हो सके ?

समाधान :- हाँ, स्वानुभव को `धर्मध्यान' कहते हैं। और पर विषय में - पंचेन्द्रिय के विषय में एकाग्रता हो उसवक्त दूसरी चिंता

या विकल्प नहीं आए तब उसे `आर्त्तध्यान' कहते हैं। इस आर्त्तध्यान की डिग्री बहुत बढ़ जाए तब उसे `रौद्रध्यान' कहते हैं। और स्वरूप ध्यान में एकाग्र हो, स्वरूप में एकाग्रतारूप ध्यान हो तब उसे `धर्मध्यान' कहते हैं और इसकी डिग्री बहुत बढ़ जाये तब उसे `शुक्लध्यान' कहते हैं। धर्मध्यान की डिग्री जब बहुत बढ़ जाए तब उसे शुक्लध्यान कहते हैं। यह मुनि अवस्था में भी आठवें गुणस्थान के बाद (होता है)। नौं, दस, बारह और तेरहवें (गुणस्थान में होता है)। छट्ठे गुणस्थान में विकल्प दशा है और धर्म ध्यान है। सातवें में भी धर्मध्यान है, आठवें में भी धर्मध्यान है। आठवें से श्रेणी लगाये तो नौवें (गुणस्थान से) शुक्लध्यान शुरू होता है। नौ, दस, बारह और तेरह - चार गुणस्थान में शुक्लध्यान है।

प्रश्न :- यहाँ विचार करना और ध्यान करना ऐसा कहा है तो विचारणा से ध्यान तक किस तरह पहुँचा जाता है ? उसकी विधि क्या है ?

समाधान :- पहले आत्म ज्ञान में आए उसे `विचार' कहते हैं। फिर उसमें लीनता हो उसे `ध्यान' कहते हैं। एकाग्रता हो जाए उसे ध्यान कहते हैं। एकाग्रता होने के पहले आत्मा के विचार आत्मा के ज्ञान सहित हो तो उसे विचार कहते हैं। वह सविकल्प दशा है, जब कि ध्यान है वह निर्विकल्प दशा है।

प्रश्न :- यहाँ ध्यान करना मतलब अनुभव करना ?

समाधान :- हाँ, ध्यान करना मतलब अनुभव करना। परंतु अनुभव है वह मुख्यरूप से ज्ञान की पर्याय गिनने में आती है और ध्यान है वह चारित्र की पर्याय गिनी जाती है। अतः शब्द अलग-अलग होने के कारण यह है कि गुण अलग-अलग हैं। दोनों गुणों का परिणमन तो एक ही काल में है। आत्मा का अनुभव वह ज्ञान

की पर्याय (है)। उसी समय काल में चारित्रगुण में एकाग्रता, लीनता (होना) वह ध्यान की पर्याय (है)।

(यहाँ चलते विषय में कहते हैं) `**निर्मल, अत्यंत निर्मल, परम शुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।**' क्या कहते हैं ? अपना स्वरूप कैसा है ? (तो कहते हैं कि) `**निर्मल**' है। (यानी) जिसमें किसी रागादि भाव की मलिनता नहीं है। `**अत्यंत निर्मल**' यानी परिपूर्ण निर्मल है, तीनों काल निर्मल है, सर्वथा निर्मल है। `**निर्मल, अत्यंत निर्मल, परम शुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।**' मेरा आत्मस्वरूप कैसा है ? निर्मल है, परिपूर्ण निर्मल है। परम शुद्ध है (यानी) द्रव्य से (या) भाव से कहीं भी उसे अशुद्धता नहीं लगी। ज्ञेय की अशुद्धता भी ज्ञान को नहीं लगी।

`चैतन्यघन' (यानी) ज्ञान, दर्शन का घनिष्टस्वरूप (है)। घन यानी Solid ऐसा मैं प्रगट आत्मस्वरूपरूप हूँ। प्रगट माने क्या ? प्रत्यक्ष। प्रगट माने निरावरण, मुझे कोई आवरण नहीं है। मेरे स्वरूप में मुझे कोई आवरण नहीं है। आवरण की मर्यादा पर्याय में समाप्त होती है। त्रिकाली जो शुद्धस्वरूप है वहाँ तक आवरण की पहुँच नहीं है। अतः उसे निरावरण कहा जाता है। परंतु आवरण हट गया इसलिए निरावरण (है) ऐसा नहीं।

जैसे कि, `**परम शुद्ध**' कहा। यानी पूरा शुद्ध कहा। इसका अर्थ कि अशुद्धता मिटी इसलिए शुद्ध (है) ऐसा नहीं। `**निर्मल**' कहा तो मलिनता मिट गई इसलिए निर्मल (है) ऐसा नहीं। इसी तरह `**प्रगट**' कहा तो अप्रगटता मिट गई इसलिए प्रगट (है) ऐसा नहीं। परंतु बताने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। है तो निरपेक्ष तत्त्व परंतु सापेक्ष बताना पड़ता है। वचनव्यवहार ही सापेक्ष है।

`आनंदघनजी' ने चौदह वें जिन का स्तवन गाया उसमें यह

बात ली है कि, `वचन निरपेक्ष व्यवहार झूठो, वचन सापेक्ष व्यवहार साचो।' इसप्रकार वचन तो सभी सापेक्ष ही होते हैं। वचनव्यवहार हमेशा सापेक्ष ही होता है।

`**निर्मल, अत्यंत निर्मल, परम शुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।**' यह आत्मस्वरूप का भावना वाचक वचनामृत है। कैसा वचनामृत है ? आत्मस्वरूप का भावना वाचक वचनामृत है। मेरा स्वरूप कैसा है ? `**निर्मल, अत्यंत निर्मल, परम शुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट...**' (ऐसे) अपने आपको Visualise करते हैं न ? जैसे बम जो होता है उसे Visualise करते ही भागने लगेगा। विचारदशा में भी Visualisation (होता है) जिसको वेदांत में `निधिध्यासन' कहते हैं। वेदांत इस शब्द को `निद्धिध्यासन' कहता है, यह असर उपजाने के लिए बहुत अच्छी परिस्थिति है। विकल्प का असर नहीं आता परंतु यदि Visualise करें तो इसका असर आए। जैसे कि आप अभी बम का विचार करें तो आपको कोई असर नहीं आएगा, परंतु बम को यदि आप Visualise करेंगे तो तुरंत असर आएगा। साँप का विचार करने से कोई तकलीफ नहीं होगी, परंतु साँप को Visualise करेंगे तो भय उत्पन्न होगा। जैसे कि किसी ने ऐसा कहा कि, `भाई ! जराबाहर जाते समय ध्यान रखना, इस रूम के बाहर साँप घूम रहा है, अभी-अभी यहाँ से गया।' तो आप उस वक्त सिर्फ विचार नहीं करेंगे (परंतु) Visualise कर लेते हैं। (केसेट में B-side blank होने के कारण प्रवचन अधूरा है।)

प्रवचन - ६ दि. २२-१२-१९९५
पत्रांक-७१० (२)

('श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत। पत्रांक-७१०) कल दो पंक्तियाँ चली हैं, फिर से लेते हैं। `**आत्मा सच्चिदानंद**' `**ज्ञानापेक्षा से सर्वव्यापक, सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा एक हूँ, ऐसा विचार करना, ध्यान करना।**' `**ध्यान करना**' यानी एकाग्र होना। ज्ञान की अपेक्षा से सर्वव्यापक स्वभाव है। आत्मा केवलज्ञान स्वभावी है। जानने का सामर्थ्य बताने के लिए सर्वव्यापकपना कहा है। वास्तव में किसी भी अवस्था में द्रव्य से, गुण से या अवस्था से व्यापना नहीं होता। प्रत्येक आत्मा की स्वक्षेत्र प्रमाण व्याप्ति रहती है। परंतु सबको मानो सब में उतरकर - प्रवेश करके जान ले तब जितना स्पष्ट जानने में आए उतना अपने स्वक्षेत्र से बाहर निकले बिना स्वक्षेत्र में रहकर जान लेता है।

यहाँ से पच्चीस मील दूर का पहाड़ दिखाई देता है यह ज्ञान वहाँ पहुँचे बिना, वहाँ गये बिना यहाँ रहकर उन पच्चीस-पचास मील (दूर स्थित) पदार्थ को जानता है। ऐसा चमत्कारिक इसका स्वभाव है ! परक्षेत्र में गये बिना, मानों परक्षेत्र में जाकर जान लेता हो, इतना सुंदर, स्पष्ट जान लेता है, इस अपेक्षा से ज्ञान को सर्वव्यापक कहा है।

सच्चिदानंद ऐसा मैं आत्मा शाश्वत ज्ञान दर्शन और आनंदस्वरूप ऐसा मैं एक आत्मा हूँ, अभेद हूँ, अखंड़ हूँ, ऐसा विचार करना, ऐसा निद्धिध्यासन करना, यानी Visualise करना और उसमें एकाग्र होना - लीन होना।

अब, मेरा आत्मस्वरूप कैसा है वह कहते हैं। `**निर्मल, अत्यंत निर्मल,...**' यानी पूर्ण निर्मल। `**निर्मल, अत्यंत निर्मल, परम शुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।**' आत्मस्वरूप यानी मेरा स्वरूप है, प्रगट मेरा स्वरूप है। मेरा स्वरूप सदा ही ऐसा है कि, अप्रगट होने का इसमें कोई अवकाश ही नहीं है। अप्रगट हो जब तो प्रगटपना लागू पड़े। क्योंकि यह तो एक द्वंद्वं हुआ। अशुद्ध हो तो शुद्धपना लागू पड़े। मल-मलीन हो तो निर्मलपना (लागू पड़े) परंतु बताने के लिए (ऐसा कहा जाता है)। स्वरूप शुद्धपर्याय जैसा होने के कारण, शुद्धपर्याय सदृश स्वरूप होने के कारण उस प्रकार के विशेषणों से बताना पड़ता है। बाकी तो जैसा है वैसा है। उन-उन प्रकार की विशेषताएँ हैं। मलिनता रहित होने के कारण निर्मल है। परिपूर्ण निर्मल होने के कारण अत्यंत निर्मल है, कोई भी प्रकार की अशुद्धि (नहीं होने के कारण परम शुद्ध है)।

निगोद में अनंत काल प्रचूर कषाय कलंक के बीच रहने के बावजूद भी यह आत्मतत्त्व वैसे का वैसा निर्विकार कोरा का कोरा ही है। ऐसा यह परम शुद्ध है। ज्ञान से यह लक्षण पकड़ा जा सकता है। यह विषय ज्ञान से पकड़ा जा सकता है। किस तरह ? कि, ज्ञान अनेक कषायों को जानता है, अनेक कषाय के साथ एक ही अवस्था में रहता है। तो भी ज्ञान कोरा का कोरा रहता है या ज्ञान लिप्त हो जाता है ? ज्ञान किस कषाय से लिप्त होकर रहा ? अभी देखें तो ! भूतकाल के अनंत कषायों के साथ (ज्ञान)

जुड़ा हुआ था। किसी भी कषाय के साथ इसका थोड़ा भी अंश - कषाय का अंश ज्ञानरूप नहीं हुआ यानी कि ज्ञान में नहीं आया। यह ज्ञान की शुद्ध रहने की अनंत ताकत को - अनंत शक्ति को स्पष्ट करना है, प्रसिद्ध करना है। अनंत कषायों के बीच रह कर भी यह ज्ञान ज्ञानरूप (रहता है)। ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ...ज्ञानरूप ज्यों का त्यों एक धारावाहीरूप से मात्र ज्ञानरूप रहता है।

वेदन की प्रत्यक्षत। भले ही आंशिक हो तो भी वह अनंत प्रत्यक्षता का नमूना है, अंश है। आज सुबह `अनुभव प्रकाश' में आया न? `ज्ञान है वह स्वरूप का नमूना है।' -स्वरूप का Sample है। जैसे एक चावल के दाने को दबाने से पता चले कि चावल पक गया माने पतीले में रहे सभी चावल के दाने पक गए हैं ऐसा नक्की करते हैं कि नहीं ? चमचे के ऊपर उबलते चावल में से; अभी थोड़ा पानी बाकी हो, पूरा जला नहीं हो, थोड़ा पानी बचा हो, तब चमचे के ऊपर दो दाने लेकर अंगुली से दबाएँगे। चावल दब जाएँ तो पता चले कि, पूरे पतीले के सारे चावल पक गये। सबको दबाना नहीं पड़ता। ऐसा यह स्वरूप का नमूना है।

जो ज्ञान वर्मतान में प्रवर्त रहा है, परिणमन जिसका चालू है, उसे ज्ञान सामान्यरूप जानने में ले। क्योंकि विशेष में तो यह किसको जानता है, यह सवाल उठता है। अथवा विशेष में मतिरूप है कि श्रुतरूप है, अल्पज्ञ है कि सर्वज्ञ है ? इन सभी विशेषणों को न लेते हुए इसमें आएगा (नीचे) `**सबको कम करते करते जो अबाध्य अनुभव रहता है वह आत्मा है।**' ज्ञान भी नहीं कहा वहाँ तो आत्मा कहा है। यानी ज्ञान है वह प्रगट है तो आत्मा भी इसमें प्रगट ही है। आवरण अवस्था को होता है, मूल स्वरूप को आवरण

कभी नहीं होता अतः उसे `निरावरण' ऐसे विशेषण से बताना पड़ता है। वस्तुतः आवरण, निरावरण से वस्तु पार है। वस्तु का मूल स्वरूप तो आवरण और निरावरण से पार है।

प्रगट और अप्रगट तो अवस्था भेद है। अवस्था प्रगट होती है, अवस्था व्यय होती है। उत्पाद हो तब प्रगट है, व्यय हो तब यह अवस्था अप्रगट होती है। यह तो अवस्था का भेद है। इन सभी अवस्था में स्वरूप जैसा है वैसा ही है। ऐसी श्रद्धा सुख का मूल है। ऐसे वचन इसमें - `अनुभव प्रकाश' में आयेंगे। क्या कहना है ? कि प्रगट अप्रगट तो अवस्था भेद है।

`कृपालुदेव' ने एक गाथा लिखी है (`आत्मसिद्धि' गाथा-५४)

`सर्व अवस्था ने विषे, न्यारो सदा जणाय;

प्रगटरूप चैतन्यमय, ए अेंधाण सदाय।'

`अेंधाण' कहो, लक्षण कहो, निशानी कहो (सब एकार्थ है)। **`सर्व अवस्थाने विषे'** विषे यानी सभी में है। सभी अवस्था में, सभी अवस्था में न्यारा है। अवस्था में है और अवस्था से न्यारा है। ऐसा कहाना है। क्योंकि यह अन्वयरूप है। द्रव्य है वह कायम रहता है। अवस्था उत्पाद-व्यय... उत्पाद-व्यय... उत्पाद-व्यय... होती है। स्वयं कायम रहती है। स्वयं वहीं का वहीं... वहीं का वहीं... वहीं का वहीं... कायम रहता है। यह अन्वय है सो द्रव्य है। यही खुद है। इसलिए (ऐसा कहा कि) **`सर्व अवस्था ने विषे, न्यारो सदा जणाय'**

`प्रगटरूप चैतन्यमय...' चेतना... चेतना... चेतना... चेतना... अनुभव करना... अनुभव करना... अनुभव करना... चालू ही है। अबाध्य अनुभव (स्वरूप है)। (यानी) जिसे कोई बंद नहीं कर सकता, बाधा नहीं पहुँचा सकता, खलल नहीं पहुँचा सकता। अनुभव करना तो चालू

ही रहता है। ज्ञान वेदन सतत चालू रहता है। इसका सातत्य द्रव्य को - अन्वय को प्रगट करता है और इसका वेदन है वह अनुभूति को दर्शाता है कि, आत्मा अनुभूतिस्वरूप है। ऐसा अबाध्य तत्त्व है। वेदन को कोई बंद नहीं कर सकता। क्योंकि वेदन तक किसी की पहुँच नहीं है। सातवीं नारकी की वेदना की भी (ज्ञान) वेदन तक पहुँच नहीं। ऐसी वस्तु सतत प्रकाशमान है। वस्तु सतत प्रकाशमान है। इसलिए ज्ञानियों ऐसा कहते हैं कि, आत्मा प्रगट है। कब प्रगट है यह प्रश्न ही नहीं। नित्य प्रगटस्वरूप है। अनादि और नित्य प्रगटस्वरूप है - अनादि अनंत ! यह भावना का बोल है। यह वचनामृत है यह भावना का है।

(कहते हैं) `**निर्मल, अत्यंत निर्मल, परम शुद्ध,...**' बेदाग ! जिसमें अशुद्धता की शंका करने की कोई गुंजाइश नहीं। अशुद्धता की शंका करने की गुंजाइश नहीं है। जैसे हमें जिस पतीली में दूध लेना हो उस पतीली को माँजकर, पानी से धोकर और फिर धूप में रखी और सुखाली। फिर उसमें कुछ पानी रहा ? धोई हुई पतीली में कुछ पानी रहा ? उसमें सीधे अपने हाथ से दूध दोहे तो इस दूध में पानी है कि नहीं, ऐसी शंका उठती है क्या ? क्योंकि धोई हुई पतीली में पानी नहीं रहने दिया था। गरम होकर सूख गई। उसमें सीधा अपने हाथ से दूध दोहा तो इस दूध में पानी होगा कि नहीं, इसकी शंका पड़ती है ? ऐसे ही आत्मा शुद्ध (है), विकार रहित शुद्ध है। अनंत काल निगोद में प्रचूर कषाय कलंक के बीच रहा हुआ आत्मा - ज्ञानतत्त्व... कैसा है ? ज्ञानतत्त्व है वह बिलकुल निर्विकार शुद्ध है। नित्य उदित स्वरूप कहो चाहे प्रगट है, ऐसा कहो। इसमें कोई मिलावट नहीं होने के कारण परम शुद्ध है। परिपूर्ण निर्मल है। ऐसा मेरा स्वरूप है। ऐसी भावना

कर।

आत्मभावना में ऐसी भावना कर। भावना में रस आएगा तो आत्म रुचि चालू होगी, वर्धमान होगी। यह आत्मरुचि है, जो कि आत्मा का ही तत्त्व है। यह आत्म रुचि की वृद्धि से इतनी निर्मलता आती है कि, ज्ञान खुद अपने स्वरूप को अपने में ही देख सकता है। इसका नाम भावभासन है। भावभासन में स्वरूप का लक्ष्य ऐसा होता है कि, यह (लक्ष्यमें से) हटता नहीं। देखने के बाद यह लक्ष्यमें से हटता नहीं। उपयोग भले ही इधर-उधर जाय, लक्ष्य वहीं का वहीं रहता है कि, मैं ऐसा हूँ... मैं ऐसा हूँ... मैं ऐसा हूँ... साक्षात् सिद्धपदस्वरूप ! अखंड साक्षात् सिद्धपदस्वरूप मैं ऐसा हूँ !! यह जो लक्ष्य है इस स्वरूप के लक्ष्य से फिर से भावना उठती है और स्वरूप का भावभासन होने पर जिस वेदना के अंश से लक्ष्य हुआ, इस वेदन को आविर्भूत करते-करते स्वरूप के लक्ष्य से आत्म भावना चले तब कैसी चले ? कि, निर्मल, अत्यंत निर्मल, परम शुद्ध, शुद्ध चैतन्यघन ऐसा मेरा स्वरूप है, ऐसा मैं हूँ। मेरा स्वरूप है यानी `मैं ऐसा हूँ'।

प्रश्न :- भावभासन करीब-करीब सम्यक्ज्ञान जैसा है, ऐसा इसका अर्थ हुआ ?

समाधान :- एक अपेक्षा से ऐसा है। `गुरुदेव' को एकांत में जाकर चर्चा में यह प्रश्न किया था कि, `कृपालुदेव' ऐसा लिखते हैं कि, जब अनुभव हुआ तब ज्ञान सम्यक् हुआ और जो मति-श्रुतज्ञान पहले भव हेतुरूप होता था वही मति-श्रुतज्ञान का अब जात्यंतर होकर भवनिवृत्तिरूप होने लगा, भव का नाश करने लगा। जात्यांतर होकर ऐसी जो ज्ञान की प्रक्रिया चली तो वास्तव में वह अनुभव हुआ तब जात्यांतर हुआ कि यह स्वरूप का भावभासन हुआ तब

ज्ञान जात्यांतर हुआ ? यह प्रश्न किया था। तो (कहा कि), `एक न्याय से तो भावभासन हुआ तब जात्यांतर हो गया। परंतु ऐसा कहते नहीं है। ऐसा समूह में नहीं कहते।' क्यों ? कि, जो विकल्प में चढ़ हो, शास्त्र पढ़कर विकल्प में चढ़ा हो कि, मैं ज्ञायक हूँ... मैं ज्ञायक हूँ... मैं ध्रुव हूँ... मैं ध्रुव हूँ... अपरिणामी हूँ... वह ऐसी कल्पना कर लेगा कि, मेरा ज्ञान तो जात्यांतर हो गया। जबकि होता है मात्र विकल्प । इसलिए ऐसा नहीं कहते। हालाँकि शास्त्र में भी प्रधानरूप से निर्विकल्प स्वानुभव स्वसंवेदन आए तब से मोक्ष मार्ग गिना है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की वहाँ एकता होती है और यही मोक्ष मार्ग है, यही धर्म है, यही राजमार्ग है। मोक्षमार्ग है परंतु यही राजमार्ग है। इसके पहले की ऐसी जो सम्यक्सन्मुखता की भूमिका है उसे जात्यांतर कह सकते हैं परंतु कहते नहीं हैं। ऐसी सब चर्चाएँ अकेले में ही होती हैं, समूह में नहीं होती। क्योंकि लोग अपने विषय में अलग कल्पना कर लेते हैं। खास करके विद्वान लोग गुमराह हो जाते हैं। इसलिए प्रसिद्धरूप से नहीं कहते। परंतु एक न्याय से तो जैसी ज्ञान की दशा है वैसी सम्यक्सन्मुख जीव की दशा हो जाती है। क्योंकि फिर इसको भेदज्ञान वैसा ही धारावाही चलता है। जैसा ज्ञानी को धारावाही चलता है ऐसा ही इसको चलता है।

`**सब को कम करते...**' `सबको' यानी सभी ज्ञेयाकारों को भी कम करने की बात है। क्योंकि सामान्य का वेदन लेना है। `समयसार' की ४९ वीं गाथा में यह बात है। ४९ वीं गाथा में जो ३६ बोल है न ? छ बोल के छत्तीस (बोल हैं), इसमें हर एक में पाँचवाँ बोल है। सभी विषयों के (विशेषों में) एक साधारण संवेदनस्वरूप खुद होने के कारण आत्मा भावेन्द्रिय द्वारा भी पर को नहीं जानता।

पर को नहीं जानता या पर का रस नहीं चखता अथवा सुनता नहीं या सूंघता नहीं, स्पर्श नहीं करता ऐसे सब बोल लिए हैं। ये सब अनेकविध हैं। स्पर्श अनेकविध है, रस अनेकविध है, गंध अनेकविध है। सबकी एक-एक विषय की पूरी दुनिया है। रस की इतनी अधिकतर वैविध्यता है कि, खाने की चीज़े हज़ारों प्रकार की ! इसी तरह Colour - रंग हज़ारों (तरह के) ! अभी एक व्यक्ति ने कहा था कि, हम एक ऐसा कम्प्यूटर लाए हैं कि, जिसमें दस हज़ार शेड़ हैं। कितने ? दस हज़ार शेड़ हैं ! आप जो कहें उसी शेड़ में आपको प्रिन्ट निकाल दें। दस हज़ार शेड़ ! एक-एक विषय की पूरी दुनिया है ! इसे जानने वाला ज्ञान, सर्व विषयों को जानते हुए भी एक साधारण संवेदनरूप है। यह इसका मूल स्वरूप है। अतः आत्मा भावेन्द्रिय से भी इस रस को चखता नहीं, इस गंध को सूंघता नहीं, इस स्पर्श को स्पर्श नहीं करता। द्रव्येन्द्रिय से तो नहीं परंतु भावेन्द्रिय से भी नहीं। वहाँ सामान्य को संवेदनस्वरूप है ऐसा लिया है। ज्ञानसामान्य स्वयं संवेदनस्वरूप है और यह आत्मा का स्वरूप है, ऐसा ही आत्मा है, आत्मा का ऐसा ही स्वरूप है।

इसलिए ('समयसार' की) १७-१८ गाथा में लिया - अनुभूतिस्वरूप है। आबाळगोपळ को अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आ रहा है। क्योंकि सबको वेदन चालू ही है। परंतु पर के साथ एकत्व के निश्चय के कारण यह वेदन मालूम नहीं पड़ता। (काफ़ी लोग) नहीं कहते ? कि, मुझे क्यों पकड़ में नहीं आता ? ऐसा जो वेदन है यह प्रगट होने के बावजूद भी मुझे पकड़ में क्यों नहीं आता ? (तो कहते हैं कि) एकत्वरूप निश्चय के कारण। पर (वस्तु) के साथ एकत्वरूप निश्चय के कारण यह

आविर्भूत नहीं होता, तिरोभूत रहता है। इसलिए मालूम नहीं पड़ता। परंतु है, प्रगट है, प्रत्यक्ष है और पर्याप्त मात्रा के पुरुषार्थ से वह आविर्भूत हो सकता है। इस प्रकार के पुरुषार्थ में भावभासन तक की Line है।

(प्रथम परिभ्रमण की) वेदना में आए, वेदना पूर्वक वैराग्य से पूर्णता के लक्ष में आए, पूर्णता के लक्ष पूर्वक स्वरूप प्राप्ति की भावना में आए। भावना से सतत अवलोकन में आए, अवलोकन से भेदज्ञान चालू हो और इस भेदज्ञान पूर्वक जब निर्मलता आए तब ज्ञान में ज्ञानस्वरूपी अखंड़ साक्षात् सिद्ध पद का मूर्तिमंत सिद्धस्वरूप स्वयं ही अपने आप को भासित होने लगता है। तब एकत्वरूप निश्चय टूट जाता है। (अर्थात्) पर के साथ एकत्वरूप निश्चय टूट जाता है और स्पष्ट अनुभवांश से प्रतीति आती है। इसे दूसरा समकित कहा है। `कृपालुदेव' ने तो इसे उस भूमिका का `समकित' ही कहा है। इस भूमिका का यह समकित भी है और इस भूमिका का वह आत्मज्ञान भी है। इस भूमिका का वह आत्मज्ञान ही है। इस तरह भावभासन तक पहुँचे यानी ज्ञान जात्यांतर होकर अनुभव तक पहुँचे इसमें देर नहीं लगती। इसे फिर देर नहीं लगती। क्योंकि फिर लक्ष वहाँ से हटाना चाहें तो भी हट नहीं सकता। यह परिस्थिति हो जाती है।

श्रोता :- आपने एक बार छः महीने कहा था ?

पूज्य भाईश्री :- यह तो बहुत मंद पुरुषार्थ हो तो। मंद पुरुषार्थ वाले को भी महीने डेढ़ महीने से ज्यादा (समय) नहीं लगता। यह छह महीने की तो बहुत लंबी Limit है।

श्रोता :- `सोभागभाई' का दाखिला देकर आपने कहा था।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, `सोभागभाई' को तो एक हप्ता ही लगा

है। `सोभागभाई' को यहाँ `ईडर' `कृपालुदेव' ले आए और हथेली में चंद्रमा दिखाया ! `चैतन्य चंद्र !' प्रत्यक्ष करके दिखाया कि, `देखो यह हमारा वेदन ! देखो आपके अंदर में (भी) धारावाहिक चलता है !! मेरी जो ज्ञानवेदन की धारा चलती है वैसी ही आपको भी चलती है। ज़रा अंदर देखो ! अपने ही ज्ञान से आप अपने अंदर देखो तो वेदन में आप खुद ही दिखोगे ! न दिखे जरा और ध्यान से देखो... और ध्यान से देखो... और ध्यान से देखो... और सूक्ष्मता से, धीरज से देखने का प्रयत्न करो !' क्योंकि इतनी निर्मलता में वे आए थे। निर्मलता में लाने के लिए सात-आठ महिने लटकाया (विरह में रखा) !! (`सोभागभाई') ऐसी वेदना में आए... ऐसी वेदना में आए... कि, (आखिर में चिट्ठी में लिखा) `प्रभु ! अब आप नहीं आए तो मेरे प्राण छूट जायेंगे !! अब मैं बीमारी के कारण नहीं मरूँगा। आपके वियोग की वेदना से मेरे प्राण छूटेंगे !!' (`कृपालुदेव' ने) देखा कि, `हाँ... अब बराबर बात (योग्यता) पक गई !!' (`सोभागभाई' को) कहा कि, `चलो अब ईडर !' इतनी निर्मलता में आ गए थे। (कि (ज्ञान) वेदन को देख सकें। इन्हें तो अंगुली निर्देश का पुण्य था। (`कृपालुदेव' कहते हैं) `देखो अपने में ! हमें प्रगट है, हमारे परिणमन को देख लो ! हमें तो आत्मा प्रगट है ! `यह' प्रगट है हमें तो !!' (`सोभागभाई' में) देखने की निर्मलता थी (इसलिए) तुरंत पकड़ लिया !! पकड़ा कि पुरुषार्थ का बंबा फटा !! जैसे ही अंदर में खुद का परमेश्वर पद देखा फिर परिणमन के वेद को रोकना नामुमकिन था। इतने तीव्र वेग से (चला) कि, एक हप्ते में अनुभव ! एक हप्ता ही लगा !! यह तो बहुत मंद पुरुषार्थ हो उसे महीना, डेढ़ महीना लगे। छः महीने तो इसकी Maximum limit बतलायी, परंतु इतना तो किसी को नहीं लगता।

इतना जोश आता है ! क्योंकि अनंत वीर्य का पिंड़ देखो। जिसके सामर्थ्य की कोई हद नहीं इतनी शक्ति का समूह देख लिया। एक शक्ति नहीं देखी, अनंत शक्ति (देखी)। एक-एक शक्ति का अनंत सामर्थ्य !! ऐसी अनंत शक्तियों का समूह, एकरूप द्रव्यसामान्य !! फिर परिणमन कैसे काबू में रहे ? और कैसे किसी दूसरी तरफ जा सके ? इसकी तो मस्ती ही चढ़ जाये !! धुन चढ़ जाये, धुनमें से बाहर निकल ही नहीं सकता न !! धुनमें से बाहर निकले तब तो अंदर कोई (दूसरी) बाधा खड़ी हो न ? धनमें से बाहर नहीं निकल सकता। धुन चढ़ जाये फिर परिणमन आने में देर नहीं लगती।

(यहाँ कहते हैं) `**सबको कम करते...**' यानी सभी ज्ञेयाकारों को कम करते हुए जो ज्ञानसामान्य रहा वह `**अबाध्य अनुभव...**'यानी अबाध्य वेदन स्वरूप रहता है। और `**वह आत्मा है।**' ऐसा जो ज्ञान वेदन है - अबाध्य अनुभव है वही आत्मा है, वही अनुभूति है और अनुभूति है वही आत्मा है। अनुभूति से आत्मा कोई दूसरी (अलग) चीज़ नहीं है। अर्थात् वह खुद ही है। `**वह आत्मा है**' यानी वह खुद है। क्योंकि `**स्व**'-पने वेदन होता है, वहाँ वेदन `**स्व**'पने वेदन होता है।

`**जो सबको जानता है वह आत्मा है।**' जो सबको जानता है वह आत्मा है यानी सबको जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... है वह आत्मा है। किस-किस को जानता है, यह कोई सोचने की जरूरत नहीं है। अथवा जिसमें सर्व पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं, जिसके ज्ञान में, जिस ज्ञान दर्पण में सर्व ज्ञेयों का प्रतिबिंब झलकता है वह आत्मा है। चलाकर के जानने की जरूरत नहीं पड़ती। (उपयोग) वहाँ ले जाने की जरूरत नहीं कि, मैं इसे जानूँ... इसे जानूँ...

इसे जानूँ... जिसके ज्ञान कटाक्ष में सारा विश्व प्रतिबिंबित हो जाता है। `कटाक्ष' (यानी) क्या कहा ? आँख के कोने से कोई जान ले ऐसे (ज्ञान के) एक अंश में (लोकालोक देख लेते हैं) अनंत ज्ञानसामर्थ्य के आगे केवलज्ञान की पर्याय तो एक अंश है। आत्मा की सर्वज्ञशक्ति में इतना सार सर्वज्ञपना भरा है कि, केवलज्ञान की पर्याय तो एक-एक अंश में प्रगट होती है !! जिनके ज्ञानकटाक्ष में - `कटाक्ष' यानी आँख का कोना। ? `कट' यानी कोना। `अक्ष' यानी आँख। आँख के कोने से देखें तो भी सारा विश्व दिखाई दे !! तो वस्तु कितनी (सामर्थ्यवंत) जिसका नाप न हो सके इतनी !!

`जो सबको जानता है वह आत्मा है। जो सब भावों को प्रकाशित करता है वह आत्मा है।'** देखो ! वहाँ `प्रकाशित करता है' शब्द लिया है। **`जो सब भावों को प्रकाशित करता है वह आत्मा है।' सर्व पदार्थों को भी जानता है और सर्व भावों को यानी गुण, पर्यायों को (भी जानता है)। सर्व द्रव्यों को जानता है, सर्व पदार्थों को जानता है और सभी के गुण, पर्यायों के भावों को भी प्रकाशित करता है। यानी सर्व पदार्थों के गुण, पर्याय भी जिसमें प्रतिबिंबित होते हैं वह आत्मा है।

प्रश्न :- सर्व भावों को प्रकाशित करे वह ज्ञानगुण की पर्याय है न ?

समाधान :- हाँ, परंतु यहाँ कहते हैं कि, गुणभेद से नहीं देखना है। यह आत्मा ही जानता है, ऐसा कहते हैं। अभेदरूप से लेना है न इसलिए आत्मा है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान जानता है ऐसा नहीं लेना, आत्मा जानता है ऐसे लो, अभेद लेना है ! (क्योंकि) भेद से विकल्प उठते हैं। अभेद है इसमें विकल्प शांत होते हैं, निर्विकल्प होते हैं।

`**उपयोगमय आत्मा है।**' (अर्थात्) ऐसा जो ज्ञान का व्यापार है उससे आत्मा अभेद है। मैं ज्ञानमय हूँ, मैं उपयोगमय हूँ, उपयोगस्वरूप हूँ। `समयसार' की `निर्जरा अधिकार' की १८३ (नंबर की) गाथा में इन शब्दों का उपयोग किया है कि, `उपयोग शुद्धात्मा' - उपयोग को शुद्धात्मा कहा है। क्योंकि आत्मा का यही स्वरूप है। जैसा उपयोग है उसरूप अंदर में आत्मा का सामर्थ्य है। यह आत्मा का स्वरूप है। क्योंकि दिखाने का साधन तो पर्याय के सिवाय दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि पर्याय में इसका स्वभावभाव प्रकाशित होता है। `**सर्व अवस्था ने विषे न्यारो सदा जणाय**' इसलिये इसी माध्यम से दिखाने के सिवाय दूसरा कई उपाय नहीं है।

`**उपयोगमय आत्मा है।**' उपयोग से यह भिन्न मालूम पड़ता है। भिन्न भी उपयोग से ही पड़ता है। वरना अनेक सामान्य गुणों की ऐसी परिस्थिति है कि अलग नहीं छाँट सकें। Specify नहीं हो सकता। यह (ज्ञानगुण से) Specifically एकदम अलग पड़ जाता है। इसलिए ज्ञान लक्षण लिया है, ज्ञानस्वरूप लिया है। अपने स्वाध्याय में `अनुभवप्रकाश' में आएगा कि, `आत्मा अनंत गुणों का स्वरूप ज्ञान प्रधान वस्तु है।' अनंत गुणों का स्वरूप होने के बावजूद भी ज्ञानप्रधान वस्तु है। क्योंकि वहीं से पकड़ में आता है। खुद अंदर में सावधान होता है कि, मैं आत्मा हूँ। वह उपयोग से सावधान होता है। अंदर में चेत जाता है कि, मैं आत्मा हूँ। ऐसे चेत जाना यह खुद का - ज्ञान का स्वभाव है। चेत जाने का स्वभाव किसका है ? ज्ञान का चेतजाने का स्वभाव है। मैं आत्मा हूँ, ऐसे कौन चेतता है ? ज्ञान के कारण चेतता है। इसलिए ज्ञान प्रधानता लेने में आती है।

`**उपयोगमय आत्मा है।**' यानी उपयोगमय मैं हूँ। आत्मा यानी

कौन ? आत्मा यानी मैं। `जयसेनाचार्यदेव' ने `प्रवचनसार' की टीका में यह प्रश्न उठाया है। `**आत्मा को इति चेत**' संस्कृत में ऐसा है। `**आत्मा को इति चेत**' इसका मतलब, आत्मा यानी क्या ? गुजराती में हमलोग ऐसा कहते हैं कि, `आत्मा एटले शुं ?' तो कहते हैं, `अहं इति !' `इति' में पूरा किया। `अहं इति !' `इति' कहकर इस जवाब में पूरा कर दिया। एक शब्द में जवाब दिया। `इति' तो पूरा करने के लिए शब्द है। `मैं' - आत्मा यानी `मैं'। बस ! इससे ज्यादा कुछ नहीं कहना। क्यों ? (क्योंकि) मैं... मैं... मैं... मैं... रूप खुद की हयाती को वेदता है। मैं... मैं... मैं... मैं... रूप खुद की हयाती को जो प्रसिद्ध करता है, अनुभव में लेता है वह आत्मा है। वह खुद है। `मैं' यानी आत्मा, आत्मा यानी मैं।'

`**उपयोगमय आत्मा है। अव्याबाध समाधिस्वरूप आत्मा है।**' अब यहाँ से चारित्र की प्रधानता से बात करते हैं। इस बोल में चारित्र प्रधानता ली है। अव्याबाध समाधिस्वरूप है। असमाधान है इसमें बाधा पहुँचती है। जीव को दुःख होता है, आकुलता होती है, धबराहट होती है। यह सब असमाधान में होता है। अपने स्वरूप को देखने पर, अपने स्वरूप को देखते ही कहीं असमाधान नहीं होता। सर्वांग समाधानस्वरूप (है) कि जिसे कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता। ऐसा अव्याबाध समाधिस्वरूप मैं हूँ। मेरा स्वरूप ही ऐसा है कि मुझे कहीं कोई अंदर में असमाधान नहीं उत्पन्न कर सकता। असमाधान तो स्वरूप को भूलने पर है। उलझन तो स्वरूप हाथ में न आए इसकी है। बाकी स्वरूप हाथ में आते ही उलझन मिटी समझो ! अनादि से चली आ रही, अनंत काल की उलझन गई। गई सो गई, खलास ! ऐसा मैं आत्मा हूँ, ऐसा मैं हूँ।

आगे का वचन तो बहुत अच्छा है ! पूरी नोंध में जो बहुत अच्छा वचन है (वह यही है)। Practical side से इसे लेने

प्रवचन - ७ दि. २३-१२-१९९५
पत्रांक-७१० (३)

आंक ७१० (चलता) है। स्वरूप विषयक नोंध है। उनकी डायरीमें से स्वरूप विषयक नोंध है। सात वचनामृत चले हैं। आठवाँ वचनामृत है। `**आत्मा है।**' `**आत्मा है**' यानी `मैं' हूँ। आत्मा यानी मैं। आत्मा है यानी खुद की हयाति है। मैं हूँ इसमें खुद की हयाति है।

`**आत्मा अत्यंत प्रगट है,...**' मैं हूँ, इतना ही नहीं परंतु मैं अत्यंत प्रगट हूँ। कहीं गहराई में होनेसे मुझे मेरा स्वरूप नहीं मिलता। ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो अत्यंत प्रगट हूँ, बहुत ही प्रगट हूँ, एकदम प्रगट हूँ, बिलकुल प्रगट हूँ, ऐसा लेना है। किस तरह? `**क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभव में है।**' आत्मा किस तरह प्रगट है यह पकड़ में आया ? आत्मा अत्यंत प्रगट है यह कैसे मालूम पड़ ? कि, स्वसंवेदन द्वारा मालूम पड़ा। और स्वसंवेदन है यह तो अनुभवगोचर है, प्रगट अनुभवगोचर है, प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है।

जो प्रत्यक्ष प्रगट अनुभवगोचर हो उसे दूसरा प्रमाण देने की जरूरत नहीं रहती। जैसे कि (कोई ऐसा कहे कि) `आप इस विषय में कुछ ऐसा बोले थे।' तो (सामने वाला) आदमी ने कहा कि

`मैं तो कुछ ऐसा नहीं बोला।' (तो फिर यह भाई कहे) `इतना नहीं, आप बोले तब यह भाई हाज़िर थे। इनकी हाज़री में बोला है।' बात पूरी हो गई, अब दूसरे प्रमाण देने की जरूरत नहीं है। जब कोई वस्तु या प्रसंग प्रगट और प्रत्यक्ष हो वहाँ दूसरे प्रमाण की जरूरत नहीं रहती। क्योंकि फिर तो अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण और तर्कप्रमाण और ये सब बातें खड़ी होती हैं। अनुभव प्रमाण सब प्रमाणों में बलवान प्रमाण है।

देखो ! अंदर में अफने आप का वेदन, अपने आप को अपना अच्छी तरह वेदन उसको `स्वसंवेदन' कहते हैं। स्व यानी खुद। संवेदन यानी अनुभव, वेदन करना, भोगना। अपना स्वसंवेदन सब को प्रगट ही अनुभव में हैं। अतः आत्मा अत्यंत प्रगट है। उसके द्वारा आत्मा अत्यंत प्रगट है।

`आत्मा है, आत्मा अत्यंत प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभव में है।' स्वसंवेदन प्रगट अनुभव में चालू ही है। अनुभव में है मतलब अनुभव में चालू ही है। जिसको बंद किया नहीं जाता, करना चाहे तो भी। ऐसा होने से आत्मा अत्यंत प्रगट है। ये बात रही समझने की और समझाने की। इसका जो वाच्य है वह परिणमनरूप है। यहाँ तक की बात तो समझने की समझाने की हुई। कि हम समझते भी हैं, चाहे समझा सकते भी हैं। लेकिन बात है परिणमन की। न कहने मात्र की है, न सुनने मात्र की भी है। यह बात कहने मात्र नहीं, अपने आया ना `अनुभव प्रकाश' में ? `यह कहने मात्र नहीं। चित्र को चेतना में लीन करे।' (अतः) कहने मात्र नहीं है। ऐसे यह बात भी कहने मात्र नहीं है इसका जो वाच्य है वह परिणमन है। इस विषय में हमको वाच्य तक पहुँचना है, यानी परिणमन तक पहुँचना है। तब इसका स्वाध्याय

यथार्थ (कह सकते हैं)। शब्दार्थ किया इसीलिए सही शब्दार्थ किया सच्चा शब्दार्थ किया इसलिए ये स्वाध्याय यथार्थ है, ऐसा नहीं है।

आत्मा है - तो किसकी विद्यमानता में यह मालूम पड़ता है ? ये सवाल है। आत्मा है, ऐसा आप कहते हैं, `हम हैं, हम तो हैं' हम नहीं ऐसी बात नहीं, हम तो हं।' है कि नहीं ? कि आप नहीं हैं ? हैं हम हैं, बराबर हैं, हम मौजूद हैं आपके सामने हम मौजूद हैं। जब हम मौजूद हैं, तो यह मौजूदगी किसकी विगद्यमानता में मालूम पड़ती है ? ज्ञान की विद्यमानता में मालूम पड़ती है। हमारी मौजूदगी हमारे ज्ञान की विद्यमानता में मालूम पड़ती है। दूसरे जीव हमारी मौजूदगी की नोंध लेवें नहीं लेवें, हमें कोई अपेक्षा नहीं है। Reject करते हैं ना ? जो कि हम तो थे लेकिन सामने भी नहीं देखते थे हम को कितना Neglect किया था कि हम हैं कि नहीं है। ऐसी बात हो गई' हमको वो अपेक्षा नहीं है।

हमारी मौजूदगी हमारे ज्ञान की विद्यमानता में मालूम पड़ती है और किससे मालूम पड़ती है ? स्वसंवेदन से मालूम पड़ती है। स्वसंवेदन से हमारी मौजूदगी अनुभवगोचर होती है, वेदन गोचर होती है। इसलिए हम अत्यंत प्रगट हैं, प्रगट हैं इतनी बात नहीं है, अत्यंत प्रगट हैं।

प्रश्न :- `अत्यंत' विशेषण लगाने के पीछे क्या आशय है ?

समाधान :- वजन देना चाहते हैं। विद्यमानता के ऊपर वजन देना चाहते हैं। इसलिए कि, पर की विद्यमानता की जीव ने इतनी इतनी ज्यादा मुख्यता कर दी है कि खुद स्वयं को भूल गया। अपनी विद्यमानता को भूला हुआ है। और इतना ज्यादा भूल गया है, इतना ज्यादा भूल गया है कि, खोज करे तो भी मिलता नहीं !

इतना ज्यादा भूल गया है, थोड़ा नहीं भूला है।

श्रोता :- बहुत उलटी दिशा में चला है।

पूज्य भाईश्री :- उलटी दिशा में क्या-क्या आता है मालूम है ? मेरा ये शरीर, इस रूप मैं, इतना सुंदर ! फिर इस शरीर को अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाए, एक तो मेरा शरीर सुंदर और दूसरा इसको अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाए फिर अच्छे-अच्छे अलंकार पहनाए और कोई बाकी रहा था तो Cosmetic और बाल वाल ये जो सब बहुत गड़बड़ किया। रस लिया वहाँ। गड़बड़ किया माने क्या किया ? कि, उसमें रस बहुत लिया। स्मरण कर लेना। अगर ऐसा हुआ हो तो स्मरण कर लेना।

श्रोता :- वर्तमान में मौजूद है फिर स्मरण क्या करना ?

पूज्य भाईश्री :- मानो कि वर्तमान में वैराग्य हुआ हो और वैराग्य चलता भी हो, तो स्मरण कर लेना। क्यों ? क्योंकि कि, (खुद) खोजने पर भी मिलता नहीं है। इतना गुण हो गया है कि खोजने पर भी मिल नहीं रहा है। बड़ी तकलीफ हो रही है, इसकी बड़ी तकलीफ हो रही है। उसका कारण यही है कि, पर की विद्यमानता को अपने रूप मान करके; है तो सब पर, इस पर की विद्यामनता को अपने रूप मान करके बहुत बहुत रस लिया है। तो स्वसंवेदन माने तिरोभूत हो गया है। क्या हुआ ? (तिरोभूत हो गया है)। स्वसंवेदन का नाश नहीं हुआ स्वसंवेदन का अभाव नहीं हुआ है।

'समयसार' की १७-१८ गाथा में आचार्यदेव की पुकार है कि आबाल गोपाल तो अनुभूति स्वरूप माने वेदन स्वरूप भगवान आत्मा सदा ही अनुभव में आ रहे हैं। ये परम सत्य है, ऐसा हो ही रहा है। जिस तरह तिरोभूत हो रहा है इसलिए मालूम

नहीं पड़ता 'गुरुदेव' दृष्टांत देते थे कि पहले के जमाने में पहले भी प्रतिष्ठा वगेरे होती तो चूला बनाते ना ?

बनाते उसमें लकड़े वगेरे जलाते हैं। लकड़े कभी गीले हो, पूरे सूखे नहीं हो, तो बहुत धुँआ होता है। जलने में बहुत (धुँआ होता है।) और उसमें इतना बड़ा टोपिया सो दो सो पाँच सो आदमी की रसोई जिसमें हो उतना बड़ा टोपिया हो तो धुँआ में दिखता नहीं है। इतना बड़ा होने पर भी नहीं दिखता ? तो धुँआ उससे भी ज्यादा है कहाँ से दिखेगा ? ऐसा पर प्रवेश भाव का पर रस का धुँआ इतना बढ़ गया कि इतना महान आत्मा, बहुत अनंत जिसकी महिमा है, बहुत महान है। इतना सामर्थ्य इतना सामर्थ्य है, जिसकी हद नहीं इतना सामर्थ्य है। परंतु दिखता नहीं है। इसकी विद्यमानता नज़र नहीं आती।

श्रोता :- अंधा हो गया !

पूज्य भाईश्री :- ये बात है इधर, अंधा हो गया। ऐसे तो ज्ञान कभी अंधा होता नहीं, आँख बंद करे तो भी लाल पीला दिखता है। इसका मतलब क्या हुआ ? कि, दिखता तो है, देखना तो चालू है। अंधे को क्या दिखता है ? कि अंधेरा। तो अंधेरा तो दिखा कि नहीं दिखा ? कोई आदमी की बाहर देखने की दृष्टि चली जाती है, तो क्षयोपशम में फरक पड़ता है और कोई बात नहीं है। वो कोई चार इन्द्रिय नहीं हुआ है, पंच इन्द्रिय ही रहा है। आँख चली जाने से चार इन्द्रिय होता है ? किसी को कान से सुनना बंद हो जाता है, तो चार इन्द्रिय नहीं होता है। हाँ, उसको दूसरी आवाज़ सुनाई देती है जिसके कारण डसकी बार की आवाज़ सुनाई नहीं देती। ऐसे यहाँ अंधेरा दिखता है तो अंधेरा इतना है कि प्रकाश नहीं दिखता बल्कि दिखता तो है, नहीं

दिखता ऐसी बात नहीं है। क्षयोपशम में फ़र्क हो जाता है। ऐसे ज्ञान कभी अंधा नहीं होता। लेकिन आवरण आता है उसके ऊपर, आवरण आता है अवस्था में।

तो ज्ञान को स्वयं का वेदन नहीं हो रहा है और स्वयं का मूल स्वरूप, स्वभाव स्वरूप है ये नहीं मालूम पड़ता है, इसका कारण इस प्रकार का आवरण है ज्ञान पर। इस आवरण को `पंचाध्याय' में `स्वानुभूत्यावरण' कहा है। क्या कहा है ? `स्वानुभूत्यावरण !' अनुभव नहीं करता सो बात है ही नहीं। अनुभव तो करता ही है। लेकिनकहता है कि मुझे ठंड लगती है। कहता है कि, मुझे यह मीठा लगता है, ये मुझे कड़वा लगता है। ये अनुभव उसका चालू है। पर वेदन, चालू तो चालू है। तो अनुभव नहीं है वेदन नहीं है, सो बात नहीं है।

ऐसे सीधा ज्ञान वेदन पकड़ने में नहीं आए तो, उलटे वेदन में वेदन है कि, नहीं है ? उसमें सामान्य को पकड़ो। उलटा और सुलटा वेदन तो विशेष है। दोनों में वेदन तो सामान्य है। गुण को ऐसे पकड़ा जाता है, स्वभाव को ऐसे पकड़ा जाता है। श्रद्धा है। विपरीत श्रद्धा भी श्रद्धा है। और सम्यक्श्रद्धा भी श्रद्धा है। दोनों में श्रद्धा करने का स्वभाव तो सामान्य है। यहाँ से श्रद्धा को पकड़ो ना, कि श्रद्धा क्या चीज़ होती है। कोई भी गुण को ले लो, यहाँ से पकड़ सकते हो। उलटा सुलटा तो अवस्था का भेद है, गुण तो परिणमन करता है, गुण परिणमता है वहाँ। अवस्था में कौन परिणमता है ? गुण परिणमता है, स्वभाव परिणमता है। यहाँ से पकड़ो।

प्रश्न :- वेदन-स्वसंवेदन चालू ही है। ऐसा पहले आपने कहा। तो `प्रकाशशक्ति' का स्वाभाविक परिणमन चालू है, ऐसा कहना होगा।

समाधान :- ठीक है ! परंतु क्या है कि, प्रकाशशक्ति समझने में सूक्ष्म पड़ती है। जबकि ज्ञान समझने में पकड़ने में आता हैं। इतनी बात ज्ञान से समजाई जाती है और उसका ही वह रूप है, ज्ञान में जो वेदन है वह प्रकाशशक्ति का रूप है। और ज्ञान में जो निराकुलता है वह सुख शक्ति का रूप है और ज्ञान किसी को स्पर्शता नहीं है निर्लेप रहता है वह उसका भिन्नत्व शक्ति का भिन्नपना का स्वरूप है। अनेक गुणों का रूप तो है ही ज्ञान में, अरे ज्ञान है वह उसके अस्तित्व का रूप है। ज्ञान की विद्यमानता है वह उसके अस्तित्वरूप का तो ज्ञान से सब बात समझ में आ जाती है, कि मैं अनंत गुण का एकरूप आत्मा हूँ। इसमें `आत्मा' शब्द लिया है।

स्वसंवेदन आत्मा है, ज्ञान है, ऐसा नहीं लिया। `**आत्मा अत्यंत प्रगट है**' आत्मा ले लिया है `**क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभव में आ रहा है।**' (हाँ, वो तो क्या है कि) स्वयं के रूप में तो अनुभव में आता है। वेदन आता है वह स्वयं के रूप में आता है। यह तो मेरा वेदन है ऐसा वेदन, `स्व' रूप में वेदा जाता है उसको `स्वसंवेदन' बोला जाता है। इस तरह से।

वचनामृत तो इतना बढ़िया है कि, इस वचन के वाच्य को Practical side में ले जाए तो उस रस से निकलें ही नहीं, छूटें ही नहीं, ऐसा वचनामृत है !! और कोई संस्कारी जीव हो तो ऐसे वचन से स्वसंवेदन को पकड़ कर के आत्मा के अनुभव तक पहुँच जाय !! तो क्या बात कही है ! मैं हूँ मैं अत्यंत प्रगट हूँ मेरे स्वसंवेदन से ये पकड़ में आता है। अंदर ऐसा पकड़ने में अंदर आ जाए ऐसी बात है। ये `**प्रगट है**' `**प्रगट**' शब्द में बहुत भाव भरा है !! ये खयाल आया कि यह प्रगटे किस तरह।

ये घटना घटी `धर्मदासजी क्षुल्लक' के लिए। `धर्मदासजी क्षुल्लक' अपनी आत्म कथा लिख रहे थे। तो लिखा कि, `मैंने अज्ञान दशा में व्रत ले लिया। पंचम गुणस्थान में जो व्रत है, क्षुल्लक पना का व्रत ले लिया।' श्रावक का व्रत होता है, ये दसमी पड़िमा है। क्षुल्लक और अल्लंक दसमी और ग्यारमी, इसमें दसमी पड़िमा ले लिया। हज़ारों उपवास किये। क्या किया ? हज़ारों तो मैंने उपवास किये और सैंकड़ो बार सम्मेद शिखर की यात्रा की, पैदल ! कितने दफे ? सैंकड़ो बार ! और इसका मुझे बहुत अभिमान हुआ था। क्या लिखा ? `कि इसका मुझे बहुत अभिमान हुआ था। ' कि मैं क्षुल्लक ! मैं तपस्वी ! बार बार उपवास करता हूँ ! हज़ारों तो उपवास कर डाले ! क्या ? कर डले। और कर के डाल दिए ! अज्ञान में। और इतनी इतनी सम्मेद शिखर की यात्रा की।

उनके गुरु ये `देवेन्द्र कीर्ति'। उन्होंने उनको बोला अच्छा : `वहाँ सम्मेद शिखर में तो वहाँ से सिद्ध होते हैं, अनंत तीर्थंकर वहाँ से सिद्ध हुए। अनंत चौबीसी के अनंत तीर्थंकर वहाँ से सिद्ध हुए। तो वहाँ से सिद्ध हुए तो वहाँ तो सिद्ध का दर्शन होता है। तुझे सिद्ध परमात्मा का दर्शन हुआ कि नहीं हुआ ?' (तो कहा) `नहीं।' (तो गुरु ने कहा) `तू अंधा है अंधा !' क्या बोला ? अंधा है। तो फिर से चले गए। वहाँ सिद्ध परमात्मा का दर्शन होता है तो फिर से जाओ। खोजा, सिद्ध भगवान को खोजा। लेकिन सिद्ध भगवान तो सिद्धालय में बिराजमान हैं और अपना सिद्ध स्वरूप तो भास्यमान हुआ नहीं था। तो उपयोग तो वहाँ सिद्धालय में गया नहीं। और न हृदय में सिद्ध भगवान को उतारे भी। वैसा का वैसा कोरा का कोरा, वापस आ गया। (आकर गुरु को कहते

हैं) `महाराज ! वहाँ तो कोई सिद्ध का दर्शन नहीं होता है सिद्ध परमात्मा का वहाँ तो दर्शन नहीं हुआ।' (तो गुरु कहते हैं) `अंधा है !' फिर बोले उनको `कितना अंधा है तु ! तेरे सिद्ध परमात्मा का दर्शन नहीं तुझे होता है क्या ?!' (इतना सुनने पर) तो उसमें उनका आवरण निकल गया। कहते ही उनका आवरण निकल गया और अपने सिद्ध परमात्मा का दर्शन कर लिया। सुपात्र जीव थे तो `अंधा' कहा तो उनको बुरा नहीं लगा।

श्रीगुरु कठोर शब्द कहते हैं तो भी मेरी भलाई के लिए और मृदु शब्द कहेंगे तो भी मेरी भलाई के लिए। `भाई ! तुझे दर्शन नहीं होता ? अपना दर्शन करो ! जरा भीतर में गौर से देखो ! प्रगट परमात्मा बिराजमान हैं और इतने बिराजमान हैं कि वहाँ से वे कभी हटते नहीं। तुमने कितनी भी उपेक्षा की और कर रहे हो फिर भी वहाँ से वे हटते नहीं है।' ऐसे उनको (`धर्मदासजी' को) स्वानुभव हो गया। आवरण निकल गया तो स्वानुभव हो गया। ये आवरण होता है, पर (के) वेदन से होता है। किससे होता है ? पर (के) वेदन से आवरण होता है। पर प्रवेश भाव कहो, परवेदन कहो, पर का वेदन कहो, राग का वेदन कहो, शरीर की शाता अशाता का वेदन कहो, ठंड़ी गरमी का वेदन कहो या रसास्वाद का वेदन कहो सभी पर (के) वेदन हैं। इस वेदन में मुझे एकत्व होता है तो यह आवरण आता है। एकत्व नहीं होता है तो निराकरण होता है। तब एकत्व नहीं होता एकत्व होने में आवरण होता है।

खोज इस तरह से चलाओ कि, मुझे वेदन किसका हो रहा है ? किस तरह से ? अंदर में खोज चालू हुई तो इस तरह से चलाओ कि, मुझे वेदन किसका हो रहा है ? राग का हो रहा है। शरीर का वेदन तो खाने-पीने में, ठंड़ी-गरमी होती है

तब प्रासंगिक उदय काल में होता है। यहाँ शरीर का निमित्त पड़ता है। लेकिन शरीर का निमित्त का कोई उदय प्रसंग नहीं हो तो, उस वक्त वेदन तो चालू है, पर वेदन तो चालू है। ये पर वेदन जो है वो राग का वेदन है। वास्तव में तो अध्यास है। आत्मा राग को वेद सकता नहीं, भोग सकता नहीं, कर सकता नहीं, क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूपी है।

जो आत्मा, ज्ञानस्वरूपी आत्मा राग को कर सकता नहीं। करे कब ? कि ज्ञान पलटकर के ज्ञान मिट करके राग रूप हो जाए तो। लेकिन ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है। राग होता है उसको जानता है कर सकता नहीं है। और करने की शक्ति भी ज्ञान में नहीं है। राग मैं करना चाहूँ, ये राग अच्छा है तो भी ज्ञान नहीं कर सकता यानी आत्मा नहीं कर सकता। `आत्मा ज्ञानस्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्' कैसे कर सकता है ? `अमृतचंद्राचार्यदेव'ने तो प्रश्न उठाया कि, ज्ञान राग को कैसे कर सकता है ? **`ज्ञानादन्यत्करोति किम्' `परभावस्य कर्तात्मा'** रागादि भाव को मैं करता हूँ, **`मोहोऽयं व्यवहारिणाम्'** ये अज्ञानी जीवों को व्यवहारी जीवों का सिर्फ मोह है। कल्पना है, अध्यास है और कुछ नहीं है। वस्तुस्थिति नहीं है। फिर भी स्वसंवेदन मालूम नहीं पड़ता है, ग्रहण नहीं होता है तो खोज में ये खोजा कि, वेदन किसका हो रहा है ?

(`समयसार' में) `कर्ता कर्म अधिकार' इसलिए लिखा है कि, वेदन ग्रहण नहीं होता है। वहाँ भी ९२, ९३, ९४, ९५ चार गाथी ली है इस विषय को लेकर। और ९६ गाथा में उन चारों गाथा का Total किया है ऐसे पाँच गाथा इसी विषय पर चली है। आत्मा कर ही नहीं सकता, राग को भी नहीं कर सकता। ठंड़ी गरमी को नहीं कर सकता वैसे राग को भी नहीं कर सकता।

क्योंकि ज्ञान ठंड़ा गरम होता नहीं। तो कर नहीं सकता। तो भोग भी नहीं सकता। जिसका कर्ता होता है उसका ही भोक्ता होता है। तो फिर मैं राग का वेदन करता हूँ वो भोक्ता पना आया कहाँ से ?

ज्ञान मिट करके, ज्ञान का नाश होकर के राग हो जाए, तब तो ज्ञान राग को करे। लेकिन ज्ञान का नाश होता नहीं और राग तो वो कर सकता नहीं। ऐसा राग करूँ ऐसा द्वेष करूँ मन कहे तो नहीं कर सकता। होता है तो स्वयं होता है। करने से नहीं होता है। ये भी वस्तुस्थिति है। इच्छा अनुसार भी नहीं कर सकता है। और ज्ञान तो सदा ही ज्ञान रूप ही रहता है। जब करता नहीं है तो सिद्ध करने की जरूरत नहींहै कि भोक्ता नहीं है। क्योंकि, जिसका कर्ता है उस का ही भोक्ता हो सकता है। भोक्ता होना यानी वेदन करना। अनुभव करना भोग वटा करना, वेदन करना तीनों एकार्थ है।

(यहाँ कहते है) स्वयं की विद्यमानता की तो हम ना नहीं कहते। `हम नहीं हैं' ऐसा कौन कहेगा ? `मैं हूँ नहीं।' ऐसा कौन कहेगा ? अपनी विद्यमानता का निषेध कौन करेगा ? कि `मैं नहीं हूँ।' `मेरा नाश हो गया है ? मैं मर गया हूँ क्या ?' (तो कहता है) `कि नहीं, मैं तो हूँ यहीं।' आपके सामने बैठा हूँ। अभी हूँ, मौजूद हूँ।' कहाँ मौजूद नहीं हूँ ? कैसे जाना ? किसकी विद्यमानता में जाना ? बस ! जाओ उसकी गहराई में ! वेदन तक पहुँच जाओगे।

विद्यमानता की गहराई में जाओ कि, कौन विद्यमानता को संभालता है ? अपनी विद्यमानता को कौन चेतता है ? चलो ! और थोड़ा ले लो कि, अपनी विद्यमानता को कौन चेतता है ?

नहीं कहते कि, `चेतावनी है इधर यहाँ संभाल के चलना। यहाँ इलैक्ट्रिक करंट, ४४० वोल्य चालू है। कहीं भी आपका हाथ स्पर्श न हो जाय।' चेतावनी है कि नहीं ? तो विद्यमानता को कौन चेतता है ? ये चेतने वाला कौन है ? इसकी गहराई में चले जाओ ! वेदन तक चले जाओगे।

प्रश्न :- गहराई में जाने की कोई रीत है।

समाधान :- आपको कभी Tension हुआ है जीवन में ? हुआ है ? उस वक्त आप कहाँ तले गये थे ? Tension हुआ उस वक्त कहाँ चले गये ? कि जो भी कोई प्रसंग बना है उसकी गहराई में चले गये कि नहीं चले गये ? और दृष्टांत ले लें। तीव्र अशाता की पीड़ा होती है तब कभी ऐसा बोलने में आता है कि `मारो जीव ऊँड़ो ऊँड़ो उतरी जाय छे।' (जी गभरा रहा है) क्या कहते हैं ? (`मारो जीव ऊँड़ो उतरी जाय छे।') और बेभान होने के पहले इस का Process (प्रक्रिया) इस तरह चलती है कि उपयोग अंदर में घिरने लगता है और ऊँड़ा उतरने लगता है। फिर भान नहीं रहता कि, मैं कहाँ हूँ ? मुझे क्या हुआ ? यह वेदना का दृष्टांत है (क्योंकि) वेदन समझाना है ना ?

ऐसे मैं अपनी हयाती का जो स्वीकार करता हूँ तो किसमें स्वीकार करता हूँ ? मैं किस तरह उसे चेतता हूँ ? इस विषय से निकर जाये उस तरह इस विषय के गहरे मंथन में, गहरे चिंतन में और गरही खोज में जाओ ! गहरी खोज में जाओ...!!

कोई चीज़ अंधेरे में खो गई हो तो बहुत ध्यान से देखना पड़ता है न ? बहुत ध्यान से देखना पड़े। `गौर से देखना' उसका दृष्टांत यह है। अंधेरे में चीज़ गिर गई हो और दिखती नहीं हो तो किस तरह ध्यान देकर देखेंगे कि, ज़रा-सी उसकी झलक

दिखे तो भी पूरी चीज़ को पकड़ लें। एकदम साफ तो दिखनेवाली नहीं है। अंधेरा है इसलिए उजाले में गिरी हो इतनी साफ तो दिखेगी नहीं। अतः ध्यान से, एकदम ध्यान से... एकदम ध्यान से देखें तो उसमें हलकी सी झलक आ जाये, उसकी थोड़ी आकृति दिख जाय तो ज्ञान में तो पूरी चीज़ को पकड़ लेते है कि नहीं ? कि, यहाँ लगती है, यह चीज़ यहाँ पड़ी है। यह तो अंधेरे में चमकता हीरा है !! इसकी चीज़ तो नहीं भी दिखे। यह तो अंधेरे में चमकता हीरा, लुढ़कता हुआ हीरा है !! हीरा लुढ़कता हो तो कितना जल्दी पकड़ लेंगे ? वह स्थिर हो उसके पहले ही पकड़ लेगा कि नहीं ? लुढ़कता हुआ हीरा, चमकता हीरा ऐसे लुढ़कता हो तो वह स्थिर हो उसके पहले पकड़ लेगा कि नहीं ? कैसी फुर्ति करे !!

यह उपयोग है वह लुढ़कता हीरा है, चालू ही है। विषय की गहराई में (जाने का) रस आए, खोजने का रस आए (तो मिल ही जाये)। अंतर खोज ! `वर्ते अंतरशोध !' (`आत्मसिद्ध' १०९ नंबर की गाथा में आता है)। ऐसे तो जब अंदर में खोज चलती है तब एक पद ऐसा (आता) है, `सद्गुरु बोध सुहाय' (`कृपालुदेव'ने) यह पद लिखा है। `आत्मसिद्धि' (४०वीं गाथा की) कड़ी है। तब क्या होता है ? कि, `सद्गुरु बोध सुहाय' क्योंकि वह जिसे खोजता है (सद्गुरु) उसकी बात करते हैं। इसीलिए यह बात उसे सुहाती है। क्योंकि यही इसका मंथन है, यही इसकी खोज का विषय है। उसमें से वह निकल नहीं सकता, ऐसे प्रकार से छूट नहीं सकता, यानी उसे यह बात रुचती है। `सद्गुरु बोध सुहाय !' ऐसी दशा आए। `आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरु बोध सुहाय ।'

(चलते पत्र में) पूरी नोंध में यह जो वचनामृत है यह वह

आत्मा को प्रगट, बहुत ही प्रगट रूप से दिखा दे ऐसा है। प्रगट आत्मा को प्रगटरूप से दिखा दे ऐसा है। `तू देख भीतर में तेरा स्वसंवेदन प्रगट है ! तू अत्यंत प्रगट है ! तू आत्मा है न ! अत्यंत प्रगट है ! देख तो सही !! जरा गौर से तू देख !' दूसरा सब देखना बंद करना पड़े यह तो स्वाभाविक है। जब ध्यान से देखना हो तब दूसरा सब कुछ देखना तो बंद हो जाना चाहिए।

हयाती अनुभवगोचर होती है। खुद `ना' नहीं करता, `मैं नहीं', ऐसा नहीं कहता। इसका अर्थ कि, हयाती अनुभवगोचर होती है। सवाल इतना है कि, अनुमान से है कि वेदन से है ? क्योंकि कोई `ना' तो करता नहीं कि, मेरी हयाती नहीं है। `मैं नहीं' ऐसा तो कोई नहीं कहता। तो `मैं हूँ, इसका आप अनुमान लगाते हो कि आपको वेदन है ?' यहाँ तो कहते हैं कि, स्वसंवेदन से प्रगट है। यह बात है। यहाँ अनुमान लगाने की बात नहीं है। मैं नहीं, ऐसा नहीं आता इसलिए मैं हूँ, ऐसा नहीं। क्योंकि यह तर्कप्रधान हुआ / तर्क से प्रमाण नहीं करना, अनुमान से प्रमाण नहीं करना, अनुभव से प्रमाण करना है।

`ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्‌गुरु बोध।
तो पामे समकितने, वर्ते अंतरशोध।।' (`आत्मसिद्ध' - १०९)

`ते जिज्ञासु जीवने' यानी जिसे अंतर जिज्ञासा है उस जीव को सद्‌गुरु का बोध मिलता है यानी निमित्त-नैमित्तिक संबंध से प्राप्त होता है। अतः वे जो कहना चाहते हैं उसका वह वाच्य पकड़ लेता है। वह अवश्य समकित को प्राप्त करता है। कब ? (तो कहते हैं)। अंतर खोज वर्तती हो तब। अंतर खोज की भूमिका में उसे बोध की प्राप्ति होती है और बोध की प्राप्ति के फल में समकित की प्राप्ति होती है। ऐसा लेना है। जिज्ञासु यानी मुमुक्षु

जीव है, ज्ञानी की बात नहीं है। यह मुमुक्षु जीव की बात है, उसको ऐसा होता है। ऐसा कहना है। यदि जिज्ञासा की भूमिका में नहीं आए तो, तब तक तो उसे कोई सहायभूत नहीं होता।

श्रोता :- इसके पहले की गाथा में तो ऐसा लिया है कि, `**कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाषा।**'

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यानी मोक्षार्थी होना चाहिए और अंतर खोज की भूमिका में आना चाहिए। जिज्ञासा पूर्वक अंतर खोज की भूमिका में आना चाहिए। फिर उसे बोध की प्राप्ति होगी, उसे समकित की प्राप्ति भी होगी। ऐसा लेना है।

(यहाँ चलते विषय में) यह जो वचनामृत है यह आत्मा को जाग्रत कर दे ऐसा है !! यानी Concentrate (एकाग्र) करने जैसा विषय है। इसके वाच्य तक जाना चाहिए। जैसे `मिशरी' शब्द कहते ही मिशरी का पूरा टुकड़ा ज्ञान में दिख जाए (वैसे ही)। `हाथी' कहते ही सूँड़ गला प्राणी सीधा ज्ञान में आए। प्रत्यक्षता हो जाय ! हाथी प्रत्यक्षता हो जाए ! `हाथी' ऐसा शब्द सुनते ही हाथी ज्ञान में आ जाए। ऐसे `भगवानआत्मा' कहते ही `भगवानआत्मा' ज्ञान में आ जाना चाहिए !! (कोई ऐसा कहे कि) `परंतु वहाँ तो हाथी को देखा था ना इसलिए ज्ञान में आ गया, यहाँ भगवान आत्मा को देखा नहीं है ना इसलिए ज्ञान में नहीं आता।' तो कहते हैं कि, `देखो तुम्हारे ज्ञान से। ज्ञानस्वरूपी और ज्ञानस्वभावी है।ज्ञान प्रगट है और अनुभवगोचर है, साकार है। ऐसा ही तुम्हारा आत्मा है। दूसरा आत्मा का रूप नहीं है। ज्ञानस्वरूपी ही तुम हो, इसके सिवाय दूसरा रूप नहीं है।'

`**वह आत्मा नित्य है,...**' क्या कहते हैं अब ? कि, `**वह आत्मा नित्य है**' जो प्रगट अनुभव में आ रहा है वह सदा ही है। किस

कारण से ? (उसका) Logic दिया है। `**अनुत्पन्न और अमिलन स्वरूप होने से।**' उसे किसीने उत्पन्न नहीं किया, बनाया नहीं और कभी यह मैला नहीं होता। वैसा का वैसा स्वरूप (रहता है)। अनंत काल निगोद में कषाय कलंक के बीच रहने पर भी वस्तु का स्वरूप ऐसा का ऐसा Intact - कोरा का कोरा (है) !

भगवान कहते हैं कि, `हे जीवो ! आप आनंदित हों !' क्यों आनंदित हों ? (तो कहते हैं कि) `तुम ऐसे के ऐसे हो ! तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ा। अंदर में कुछ नहीं बिगड़ा।' `**अमिलन**' यानी अंदर कोई नहीं मिला, कोई नहीं मिलता। Adulteration नहीं होता - मिलावट नहीं होती। अंदर किसी की मिलावट नहीं होती। इसमें क्या है कि, या तो वस्तु नई उत्पन्न हो और या तो किसी भी मिश्रण से उसे Creat करने में आए। (अर्थात्) एक दो, चार ऐसे पदार्थों के मिश्रण से कोई वस्तु बनाने में आए। कोई वस्तु मिश्रण द्वारा, मिश्रित होकर बने वैसे। इस तरह बहुत-सी चीज़ें नहीं बनाते ? मिलाकर - Mixing करके बनाते ही हैं न ? यहाँ इसमें कोई Mixing नहीं होता। श्रीखंड़ ले तो ! वही और शक्कर को मिलाकर छानते है, Mix करते है न ? वहाँ ऐसा नहीं कहते कि, ये दहीं, शक्कर है, खाओ ! ऐसा नहीं कहते, श्रीखंड़ खाओ ! ऐसा कहते हैं। दहीं, शक्कर को खाओ, ऐसा थोड़ी हमें कहते हैं ? श्रीखंड़ खाओ। श्रीखंड़ यानी क्या है ? कि, दहीं और शक्कर के मिश्रण से तैयार हुई एक वस्तु। ऐसे यह (आत्मा) कोई तैयार हुई वस्तु (नहीं है), मिलनस्वरूप नहीं है। वस्तु मिलाकर हुई नहीं, वैसे ही किसीने उत्पन्न की हुई वस्तु नहीं है। इसलिए वस्तु नित्य है। सदा ही ऐसी की ऐसी है। `**वह आत्मा नित्य है, अनुत्पन्न और अमिलन स्वरूप होने से।**' आत्मा सदा ही है, ऐसा का ऐसा सदा ही है।

अब कहते हैं कि, `भांतिरूप से पर भाव का कर्ता है।' परभाव का कर्ता (यानी) ऐसा अनुभव होता है कि, `मैंने राग किया। यह भ्राँति है। बाकी असल में ज्ञान राग को करता नहीं।' अथवा स्वभावस्वरूप आत्मा अपने स्वबाव द्वारा राग नहीं कर सकता। व रागरूप परिणमन नहीं करता। यदि स्वभाव द्वारा ही राग रूप परिणमन करता हो तो सदा ही राग चलता ही रहता मिटता ही नहीं। क्योंकि फिर तो यह उसका स्वभाव हो गया। जैसे ज्ञान सदा ही होता रहता है, क्योंकि ज्ञान उसका स्वभाव है। इसे मिटा नहीं सकते परंतु राग को मिटा सकते हैं। इसलिए (ऐसा कहा कि), **`भांतिरूप से परभाव का कर्ता है।'** यह भांतिगतरूप बात है। और **`उसके फल का भोक्ता है।'** यानी दुःख का भई तभी भोकात है। जब भ्रांतिरूप से राग करता है तब आकुलता नाम दुःख को भी वह भोगता रहता है।

परंतु **`भान होने पर स्वभाव परिणामी है।'** `कृपालुदेव' की बहुत सुंदर शैली है ! आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध पर्यायरूप परिणमन करे ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। फिर भी वह शुद्ध पर्यायरूप परिणमन क्यों नहीं करता ? क्योंकि अपने स्वभाव का बेभानपना वर्तता है, इसीलिए। यदि भान हो जाये तो स्वभावरूप से परिणमन करना सहज है। क्योंकि सहज स्वभावरूप परिणमन करना ऐसा (ही) उसका स्वभाव है। (सिर्फ) भान होने की जरूरत है।

(अभी) बेभान है। `मैं फ़लाँ , मैं फलाँ वैसा।' जैसा शरीर है वैसी कल्पना कर ली। ठिंगना हो तो ठिंगना, लंबा हो तो लंबा, मोटा हो तो मोटा, पतला हो तो पतला, सुंदर हो तो सुंदर और बदसूरत हो तो बदसूरत। यह आत्मा का बेभानपना है। इस बेभानपने में ऐसी सब कल्पना (करता है)। मैं रंक, मैं राजा, मैं गरीब, मैं

श्रीमंत, मैं मूर्ख, मैं पंड़ित, मैं गृहस्थ और या त्यागी ! ये सब बेभान पने के भाव हैं।

मैं आत्मा हूँ। मैं गृहस्थ भी नहीं, त्यागी भी नहीं। मूर्ख भी नहीं और पंड़ित भी नहीं। राजा भी नहीं और रंक भी नहीं। मनुष्य भी नहीं। फिर सवाल कहाँ रहा ? मैं आत्मा हूँ। (मनुष्यपना) यह तो कर्मजनित अवस्था है। यह आत्मा का स्वरूप कहाँ है ? यह आत्मा का स्वरूप नहीं।

`**भान होने पर स्वभावपरिणामी है।**' कितना सुंदर लिखा है !! `स्वभावपरिणामी है' ऐसा सीधा नहीं लिखा। `**भान होने पर स्वभावपरिणामी है।**' मूल स्वरूप का भान हो तो सहज स्वभावरूप परिणमन चालू हो जाये। जैसे (पानी का) (नल) खोला तो पानी जोर से आना चालू हो गया। ऐसे ही भान हुआ तो इसके स्वभाव का कौक (नल) खूल गया। जैसा भान हुआ (वैसा) ही स्वभावपरिणाम चालू हो गया। (सिर्फ) भान होने की जरूरत है।

भान कब हो ? `प्रगट लक्षणे भान' ! ज्ञान का जो प्रगट लक्षण है उससे भोना होना चाहिए। कैसे कैसे (वचन के) टुकड़े आ जाते हैं !! चार शब्द का टुकड़ा है - `**भान होने पर स्वभावपरिणामी है।**' चार शब्द ! इसमें तीन शब्द तो दो-दो अक्षर के हैं। कितना छोटा वाक्य है ! दो शब्द तो दो-दो अक्षर के हैं, एक शब्द एक अक्षर का है। तीन शब्दों के लिए सिर्फ पाँच अक्षर हैं। पाँच अक्षर के तीन शब्द हैं। इतना छोटा वाक्य है !! (परंतु) मर्म कितना भरा है ! ऐसा लगता है कि, बस ! इतना ही है !! (सिर्फ) भान होने की जरूरत है ?! फिर तो स्वभाव का प्रवाह जोर से चालू हो गया !! श्रीगुरु ने मार्ग को सरल कर दिया है। `अनुभवप्रकाश' में `दीपचंदजी' ने ऐसा-ऐसा लिखा है। `श्रीगुरु ने मार्ग को सरल कर दिया है।' लिखते हैं अनुभव

प्रवचन - ८ दि. २४-१२-१९९५
पत्रांक-७१० (४)

`श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत। आंक-७१०, हिन्दी में पन्ना-५२९ है। `**भान होने पर स्वभावपरिणामी है।**' स्वाध्याय में यह वचन चल रहा है। आत्मा स्वभावपरिणामी तो है। स्वभावपरिणामी ऐसा जो आत्मा का स्वरूप है। सो तो त्रिकाल स्वरूप है। त्रिकाल स्वभावपरिणामी आत्म स्वरूप होने पर भी यह संसार अवस्था में स्वभावपरिणामी रूप क्यों नहीं परिणाम करता ? यह प्रश्न उठता है।

फिरसे, आत्म स्वभावपरिणामी है। यानी स्वभावरूप परिणमन करना उसका स्वरूप है। फिर भी हम अनुभव करते हैं कि, अनंत काल से संसार में आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमन नहीं करता है तो इसका क्या स्पष्टीकरण है ? इसका खुलासा क्या है ? (तो कहते हैं) `**भान होने पर स्वभावपरिणामी है।**' यदि किसी को ऐसा भान हो जाता है कि `आत्मा स्वभावपरिणामी है' तो स्वभावपरिणमन होने लगता है। अनादि से ऐसा भान नहीं होने के कारण स्वभावपरिणामी होने पर भी स्वभावरूप परिणमन नहीं होता। अतः स्वभाव है वह स्वभावरूप रह जाता है, उसका परिणमन बाहर नहीं आता। इसलिए आत्मस्वरूप का भआन करने को सत्शास्त्रों में उपदेश

है। ज्ञानियों का भी यह उपदेश है कि, आत्मा स्वयं के स्वरूप के भान में आ जाय तो उसकी सारी तकलीफें शांत हो जाती हैं और वह स्वभावरूप निराकुल, शांतरूप परिणमन करने लगता है।

आत्मा का स्वभाव तो शांत स्वभाव है और शांतरूप से परिणमन करना यही इसका त्रिकालस्वरूप है। जब जब आत्मा के परिणाम में अशांति हो तब तब ऐसा ही विचार करना कि, मैं बेभान पने में हूँ। बेभानपने में भी इतना विचार तो कर सते है कि, मैं बेभान हूँ इसलिए अशांति हो रही है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को बेभानपने में भी इतना विचार करने की शक्ति तो रहती है कि, यह जो मुझे अशांति हो रही है वह मेरे बेभानपने के कारण हो रही है। स्वरूप के भान में कोई भी हालत में, कोई भी परिस्थिति में आत्मा शांत रूप से परिणमन करने लगता है।

यह इसका मर्म है कि, स्वयं का बेभानपना मिट जाय और खुद अपने स्वरूप के भान में आ जाए। यही इस वचनामृत का मर्म है।

प्रश्न :- भ्रांतिरूप से परभाव का कर्ता लिया और स्वभाव में परिणामी शब्द लिया, कर्ता परिणामी ऐसा शब्द नहीं लिया, उसका क्या कारण ?

समाधान :- (स्वभावरूप से परिणमन करना) यह तो उसका त्रिकाल स्वरूप है। जो परभाव का कर्ता लिया है यह तो भ्रांति के कारण लिया है। स्वभाव से परभाव का कर्ता नहीं। स्वरूप से यदि यह परभाव का कर्ता हो तो, तीनों काल परभाव हुआ करे, मिटे ही नहीं। इसलिए वैसा स्वरूप नहीं है। परंतु जब भ्रांति होती है, भ्रांति में क्या होता है कि, वर्तमान जो कर्मजनित अवस्था

है - `मैं ऐसा हूँ' यह जो भ्रांति है, यह उसको परभाव कराती है।

इस जगत में `मैं निरपेक्ष आत्म द्रव्य हूँ।' क्या लेना है ? सारे विश्व में मैं एक आत्मद्रव्य हूँ, जो निरालंब निरपेक्ष हूँ। मुझे किसी के अवलंबन की आवश्यकता नहीं और मुझे किसी की अपेक्षा नहीं मैं अपेक्षावाला नहीं हूँ। ऐसा आत्म द्रव्य मैं हूँ - ऐसे भान में शांतस्वभावरूप परिणमन चालू रहेगा। और ऐसा भान नहीं रहा तो भ्रांति हो गई कि, मैं फलाँ, फलाँ, फलाँ हूँ। इसलिए ऐसा होना चाहिए, वैसा होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए, वैसा होना चाहिए। मैं देश में कुछ नहीं, मेरे देश में मैं मेरे देश का देशवासी नहीं। मेरे गाँव में मैं इस गाँववाला नहीं। मेरे इस Group में मैं इस Group वाला नहीं और मेरे कुटुंब में मैं कोई संबंध वाला नहीं। मेरे परिवार में मैं कोई संबंध वाला नहीं। मैं जगत का एक स्वतंत्र द्रव्य हूँ, आत्मद्रव्य हूँ। निरालंब, निरपेक्ष हूँ। ऐसा भान होने पर शांत... शांत... शांत... शांत... आत्मशांति का परिणमन रहेगा। क्योंकि ऐसा उसका स्वरूप है, स्वभाव है। (यदि) भ्रांति हुई तो परभाव होते ही करेंगे और अशांति होगी और बढ़ती ही जाएगी। (अशांति) होगी तो सही और तो और बढ़ती भई जाएगी।

श्रोता :- बेभानपने में अशांति बढ़ती जाती है।

पूज्य भाईश्री :- बेभानपने में अशांति बढ़ती जाती है। स्वरूप का बेभानपना है परंतु कर्मजनित पर्याय का सभानपना है। इसलिए अशांति बढ़ती है। मैं फलाँ... मैं ऐसा, मैं ऐसी... मैं वैसी... यह जो कर्मजनित अवस्था है उसका सभानपना है। यही उसे अशांति का कारण है। बेभानपना यानी आदमी बिमारी के कारण बेशुद्ध हो जाता है, ऐसा नहीं। यहाँ तो बेभानपना यानी कर्मजनित अवस्थआ

का सभानपना और मूल स्वरूप का बेभानपना। ऐसी अवस्था है और यह अवस्था रोगिष्ट अवस्था है। यह भावरोग है, परिभ्रमण का कारण रूप है, फल स्वरूप परिभ्रमण होता है और जीव दुःखी... दुःखी... दुःखी... बहुत दुःखी होता है।

(अब कहते हैं) `सर्वथा स्वभावपरिणाम वह मोक्ष है।' जब भान होता है (तब) स्वभावरूप परिणमन होने लगता है। जब पूरा का पूरा स्वभावपरिणाम होता है, उसको भगवान `मोक्ष' कहते हैं। मोक्ष कोई स्थान नहीं, कोई क्षेत्र नहीं, कोई संयोग नहीं, कोई वियोग नहीं। स्वयं का परिपूर्ण स्वभावरूप परिणाम - जैसा स्वरूप है तथारूप संपूर्ण शुद्ध परिणाम उसे `मोक्ष' कहते हैं। `मोक्ष कह्यो निज शुद्धता' उसे ही मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष की परिभाषा ज्ञानियों ने अनेक पहलुओं से कही है। यहाँ `**सर्वथा स्वभाव परिणाम वह मोक्ष है।**' ऐसा कहा है। कोई कहते हैं कि, निष्कर्म अवस्थारूप मोक्ष है। कोई कहते हैं कि, परिपूर्ण शुद्धता वह मोक्ष है। (इस तरह) अनेक प्रकार से मोक्ष की परिभाषा है। क्योंकि उसमें अनेक गुण प्रगट होते हैं। मोक्ष में सभी गुण संपूर्ण शुद्ध (रूप से) प्रगट होते हैं। (अतः) कभी कोई गुण से, कभी कोई गुण से, कभी कोई गुण से मोक्ष की परिभाषा आती है। वे सभी सत्य हैं।

**`सद्गुरु, सत्संग, सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि उसके साधन हैं।'** सबसे पहला, सबसे बड़ा साधन `सद्गुरु' है। सद्गुरु जैसा कोई साधन नहीं है। सद्गुरु साधन है, सत्संग भी साधन है। इसलिए सत्संगरूप साधन का सेवन मुमुक्षु को हमेशा-हमेशाकरना चाहिए। कोई भी परिस्थिति में सत्संग का त्याग करने का निर्णय नहीं लेना। दूसरे सभी पदार्थों का त्याग करने का निर्णय लो

इसमें कोई आपत्ति नहीं है। परंतु सत्संग का त्याग करने का निर्णय नहीं लेना। यह एक साधन है। यह साधन छूट गया तो फिर तिरने का कोई उपाय नहीं रहेगा।

`**सत्शास्त्र**' जब सत्संग न मिले तब एक Alternative बात है - सत्शास्त्र की, वह भी साधन है। और वह भी उपलब्ध न हो, शास्त्र भी धर में न हो अथवा ऐसी कोई परिस्थिति में हो कि जहाँ अपने हाथ में शास्त्रों भी न हो और सत्संग भी न हो, गुरु भी न हों तब `**सद्विचार**' में रहना।

प्रश्न :- बिना गुरु के सद्विचार उत्पन्न हो सकते हैं क्या ?

समाधान :- नहीं, सद्गुरु तो पहले चाहिए। वे न हों तो सत्संग चाहिए, वह न मिले तो सत्शास्त्र चाहिए, वह भी न हो तो क्या करना ? यह भी न हो तो आत्मकल्याण का विचार करना। सद्विचार यानी आत्मकल्याण का विचार करना। आत्मकल्याण के विचार में सद्गुरु और सत्संग के विचार भी आए बिना रहेंगे नहीं। वे भी बीच में आ ही जाएंगे उन्हें भी `सद्विचार' कहते हैं।

प्रश्न :- भाईश्री ! आपने कहा कि, सत्संग को छोड़ने का विचार कभी नहीं करना, ऐसा क्यों नहीं कहा कि परम सत्संग को छोड़ने का विचार कभी नहीं करना ?

समाधान :- हाँ, ठीक है। सत्संग कहो, परम सत्संग कहो। जहाँ से जिसे भाल हो वह करना। चाहे सत्संग हो, चाहे परम सत्संग हो। अपने पारमार्थिक लाभ को देखना है।

`**और संयम आदि उसके साधन हैं।**' `संयम' यानी वृत्ति को स्वच्छंद (होने से) रोकना। यहाँ संयम यानी मुनिदशा में या पंचम गुणस्थान में जो संयम होता हैं वह बात नहीं है। संयम यानी

खुद की भूमिका में जो संयमित वृत्ति होनी चाहिए, वह होनी चाहिए। यह `**संयम आदि उसके साधन हैं।**'

`**आत्मा के अस्तित्व से लेकर निर्वाण तक के पद सच्चे हैं, अत्यंत सच्चे हैं, क्योंकि प्रगट अनुभव में आते है।**' क्या कहते हैं ? कि, आत्मा है... उपदेश का एक पद है कि, आत्मा है, तो यह पद सच्चा है। वहाँ से लेकर आत्मा का मोक्ष हो जाय (ये सारे पद सच्चे हैं)। प्रथम उपदेश क्या देंगे ? कि, आत्मा है। आप श्रद्धा करो, विश्वास करो कि आत्मा है। श्रद्धा का कार्य अस्तित्व को ग्रहण करने का है। तो सबसे पहले श्रद्धा का परिणमन चतुर्थ गुणस्थान में होता है। वहाँ से लेकर (यानी कि) चतुर्थ गुणस्थान से लेकर निर्वाण पद तक का जो उपदेश दिया है वे सभी अवस्थाएँ और उनके उपदेश सच्चे हैं, अत्यंत सच्चे हैं। `**क्योंकि प्रगट अनुभव में आते हैं।**' ज्ञानियों ने कहा है, शास्त्र में लिखा है इसलिए नहीं। हमारे अनुभव में यह बात प्रगट रूप से आ रही है।

शास्त्र में ये सब पद कहे हैं। आत्मा के अस्तित्व से लेकर निर्वाणपद (तक का) उपदेश दिया है वह बिलकुल सच्चा है। उसमें कोई संदेह करने की गुंजइश नहीं है। निःशंक सच्चा है और हमारा अनुभव भी यही बोलता है।

`**भ्रांतिरूप से आत्मा परभाव का कर्ता होने से...**'ऊपर कहा न ? `**भ्रांतिरूप से परभाव का कर्ता है।**' `**शुभाशुभ कर्म की उत्पत्ति होती है।**' परभाव के कर्तापने का फल क्या आया ? कि, या तो शुभ करेगा या तो अशुभ (भाव) करेगा। भ्रांति में पड़ा जीव शुद्धपरिणाम नहीं कर सकेगा। क्योंकि शुद्ध परिणाम करने की उसमें कोई शक्ति नहीं, कर सकेगा ही नहीं।

प्रश्न :- भाईश्री ! आत्मा के लक्ष्य से जो परिणाम होते हैं

वे शुद्ध परिमाम हैं ?

समाधान :- हाँ, आत्मा के लक्ष्य से शुभाशुभ भाव रहित आत्मभाव होते हैं वे शुद्ध परिणाम हैं। जो भ्रांति में पड़ा है कि, `मैं ऐसा हूँ, मैं मनुष्य हूँ' उसे शुद्ध परिणाम कभी नहीं होते। उसे दो ही प्रकार के परिणाम होंगे - या तो शुभ या तो अशुभ। अर्थात् या तो वह कषाय के तीव्र परिणाम करेगा अथवा तो कषाय के मंद परिणाम करेगा। कषाय का अभाव करके कषाय रहित परिणामम वह नहीं कर सकता। कारण कि भ्रांति में पड़ा है। उसे शुद्ध स्वरूप का भान नहीं है जबकि शुद्ध परिणाम तो शुद्ध स्वरूप के अवलंबन से होते हैं। जब शुद्ध स्वरूप का ही भान नहीं है तो अवलंबन कहाँ से आएगा ? शुद्ध परिणाम कहाँ से होंगे ? उसे या तो शुभ परिणाम होंगे, या तो अशुभ परिणाम होंगे। यह बात हो जाएगी।

प्रश्न :- जिसने लक्ष्य बाँधा, उसे भी शुद्ध परिणाम नहीं होते ?

समाधान :- नहीं, शुद्ध परिणाम तो शुद्धात्म स्वरूप के अवलंबन से होते हैं। अवलंबन हाथ आया कि परिणाम शुद्ध हुए। जब तक अवलंबन नहीं (तब तक) परिणाम की शुद्धता नहीं। उसे शुद्ध होने की विशुद्धि कहते हैं, पात्रता कहते हैं, योग्यता कहते हैं, परंतु अभी भी शुद्ध नहीं हुआ।

प्रश्न :- भावभासन के बाद से शुद्ध भाव आते हैं ?

समाधान :- भावभासन के बाद भी मुख्य रूप से नहीं कह सकते। मुख्यरूप से अनुभव के बाद कहा गया है। भावभासन होने में क्या हुआ कि, मिथ्यात्व अत्यंत मंद हुआ, अभाव होने के लायक हो गया। ऐसी स्थिति हो गई और जो ज्ञान है वह स्वभाव सन्मुख हुआ। पुरुषार्थ भी स्वभाव सन्मुख हुआ। इन तीन गुणों में बड़ा

फेरफार हुआ। इतनी बात है। परंतु शुभ-अशुभ चालू है। चारित्रगुण में शुद्धता नहीं आई, वीतरागता नहीं आई। चारित्रगुण में वीतरागता चौथे गुणस्थान में आती है।

प्रश्न :- आत्मभाव और आत्म विकल्प में मुमुक्षु भेद छाँट समकता है, तो इन आत्मभाव का जो परिचय हुआ तो क्या वह शुद्धभाव नहीं ?

समाधान :- शुद्धभाव तो वीतराग भाव को कहते हैं। श्रद्धा, ज्ञान के परिणमन में जो फेरफार हुआ और आत्मभाव हुआ उसे शुद्धभाव नहीं कहते, क्योंकि वीतरागता नहीं हुई। श्रद्धा, ज्ञान में फेरफार हुआ यह बात ठीक है, परंतु श्रद्धा मिथ्या तो है न ? उसकी जाति तो सम्यक् नहीं हुई ना ? धर्म तो `दर्शन, ज्ञान, चारित्राणी मोक्षमार्गः' है। तीनो (गुणों की) एकता होनी चाहिए। `कृपालुदेव' ने `मूळ मारग सांभळो...' (वाक्य में) क्या कहा ? `**ज्ञान, दर्शन, चारित्रनी शुद्धता रे, एक पणे अने अविरुद्ध, जिनमारग ते परमार्थथी रे, एम कह्युं सिद्धांते बुध।**' `बुध' यानी ज्ञानी। सिद्धांत में ज्ञानियों ने मोक्षमार्ग ऐसा बताया है। इसके पहले यदि हम मोक्षमार्ग है ऐसा कहें तो सिद्धांत तूटता है। क्या होता है ? सिद्धांत तूटता है। किस तरह तूटता है ? कि, श्रद्धा की जाति मिथ्या है। उसे आप धर्म है, ऐसा किस तरह कहेंगे ? भले ही पतला है, परंतु है तो मिथ्यात्व ना ? पतला भी है तो मिथ्यात्व ना ? सम्यक् तो नहीं ना ? उसमें हमें राज़ी नहीं होना है कि, चलो, पतला तो पड़ा ना ! इसमें राज़ी नहीं होना है।

प्रश्न :- सिद्धांत तूटता है इसलिए मिथ्या कहना है कि वास्तव में मिथ्या ही है ?

समाधान :- मिथ्या है इसलिए सिद्धांत तूटता है। सिद्धांत क्यों

तूटता है ? क्योंकि श्रद्धा मिथ्या है अतः सिद्धांत तूटता है। तो उसे मोक्षमार्ग कैसे कहें ? उसे धर्म कैसे कहें ? अतः `समयसार' की १४३ (नंबर की) गाथा में लिखा कि, आखरी हद तक के स्वरूप के विकल्प में रहा है और अनुभव में नहीं आया तो इससे क्या हुआ ? तो क्या हुआ ? तुझे भावभासन हुआ, सम्यक् सन्मुख हुआ, परंतु अभी भी तुझे निश्चयनय का पक्ष रहा है, अभी भी तू पक्ष वाला है, निष्पक्ष नहीं हुए इस मार्ग में - वीतराग मार्ग में निष्पक्ष होना चाहिए। वीतराग मार्ग में पक्षवाले का काम नहीं। स्वरूप के पक्षवाले का काम नहीं ! दूसरे के पक्षवाले का तो प्रश्न ही नहीं रहता। अतः वीतरागमार्ग में चलने वाले में समाज के पक्षवालों का कोई स्थान नहीं। Not allowed, Not permitted ! उसे इजाज़त नहीं मिलती।

श्रोता :- ऐसा बनता है तो आज्ञाविरुद्धता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यह तो बहुत विरुद्धता है। प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ आज्ञा है ही कहाँ ? यहाँ तो स्वरूप के पक्षवाले को ऐसा कहा कि, इससे क्या हुआ ? अर्थात् उसमें कुछ नहीं। हम उसकी कोई कीमत नहीं करते।

श्रोता :- पूर्णता का लक्ष वाला तो ऐसा करेगा ही नहीं।

पूज्य भाईश्री :- यह तो बारहवें गुणस्थान तक की पर्याय हो तो भी कहते हैं कि, मुझे यह अधूरी बात पुसाती नहीं है। मुनिदशा में यह बात कहते हैं कि, अमृत तो आता है परंतु धीमी धार से आता है ! हमको धीमी धारा नहीं चलती !! यह चलेगी नहीं। हमें तो पूरा का पूरा चाहिए। हमारा अधिकार तो पूरे का है, हम अधूरा क्यों रखें ? क्यों लें ?

ऐक पिता के दो बेटे हो और पिता अपनी मूड़ी देना चाहते

हैं, तो दोनो बेटे क्या कहेंगे ? `पचास-पचास टका बाँट दो।' पिता कहते हैं कि, `देखो भाई ! मुझे इसका थोड़ा पक्ष है तो उसे इक्यावन प्रतिशत दूँगा और दूसरे का उन पचास (प्रतिशत) रहेगा।' दिया तो एक (प्रतिशत) ज्यादा परंतु फ़र्क हुआ दो (प्रतिशत का)। उनपचास और इक्यावन में फ़र्क तो दो का हो गया ना ? ज्यादा दिया एक प्रतिशत परंतु फ़र्क हुआ दो प्रतिशत का। मंजूर करेगा ? (तब दूसरा बेटा क्या कहेगा ?) `देखो ! मैं अपनी उदारता से पूरा दे दूँ, उनपचास प्रतिशत दे दूँ। परंतु मेरा अधिकार पचास प्रतिशत का है। मेरे अधिकार में मुझे एक प्रतिशत भी कम नहीं चलेगा।'

इस तरह जिसे स्वरूप का भान है वह कहेगा कि, मुझे तो पूरा का पूरा स्वरूप चाहिए, मुझे अधूरा नहीं चलेगा। बारहवाँ गुणस्थान भी अधूरा है, यह नहीं चलेगा। सम्यक् सन्मुख की तो बात कहाँ रही ? भावभासन की बात कहाँ रही ? बारहवाँ गुणस्थान तक का अधूरा मुझे नहीं चलेगा। मेरा अधिकार पूरे का है, मुझे पूरा चाहिए। और मुझे पूरा मिल भी गया तो इसमें ज्यादा क्या मिल गया ? यह तो मेरा अधिकार है। इसमें कोई ज्यादा तो नहीं मिल गया ना ? यह तो मेरा अधिकार था सो मुझे मिला है ! इसलिए इसमें कोई बड़ी बात नहीं। यहाँ तक आना चाहिए। भावभासन (हो गया) या थोड़ी योग्यता हो गई या आगे बढ़े तो इसमें कोई राज़ी होने की बात नहीं। यह तो बहुत सामान्य बात है।

श्रोता :- जिसे पूर्णता का लक्ष है उसे तो कितना बाकी है, यह दिखता है, उसे संतोष कहाँ होनेवाला है।

पूज्य भाईश्री :- इसलिए यह (बीस दोहे में) आया ना ? `**अहंभावथी रहित नहि, स्वधर्म संचय नाहीं**' मुझे तो अहंभाव हो जाता

है। थोड़ा -बहुत हुआ कि अहंभाव हो जाता है। मेरा स्वधर्म तो पूरा होना चाहिए।

(यहाँ) क्या कहते हैं ? `**भ्रांतिरूप से आत्मा परभाव का कर्ता होने से शुभाशुभ कर्म की उत्पत्ति होती है।**' भ्रांतिरूप से आत्मा परभाव का कर्ता होने से... एक यह स्थिति है (अर्थात्) भ्रांति की स्थिति है, भ्रांति हुई तो परभाव होंगे (और) कर्तारूप से परभाव होगा। उसका कर्तृत्व हो जाएगा और भोक्तृत्व भी हो जाएगा। उसके फलस्वरूप में शुभ और अशुभ, शुभ और अशुभ परिणाम होने लगेंगे। शुद्ध परिणाम होने का कोई अवसर नहीं आएगा।

शुद्ध परिणाम होने के लिए परभाव का कर्तृत्व मिट जाना चाहिए। परभाव का कर्तृत्व तब मिटता है कि जब स्वरूप की निर्भ्रांत दशा होती है, स्वरूप विषयक भ्रांति मिट जाती है, तब होता है।

ऐसे तो बात सरल है परंतु असरल कर दी है, कर दी है अथवा हो गई है। `मैं फलाँ... फलाँ...!' जब तू आत्मा है, तो `मैं आत्मा हूँ', ऐसे लेने में तुझे क्या आपत्ति है ? जब तू आत्मा है, तू माने तो भी आत्मा है, न माने तो भी आत्मा तो है ही। जब तू जीव है, आत्मा है तो ऐसा मानने में तुझे तकलीफ किस बात की है यह बता ना ? `ना, ना, मैं फलाँ... फलाँ... ना, ना, मैं ऐसी, मैं वैसी...' क्या बात है ये ? ऐसा मानकर या तो कषाय तीव्र करेगा या तो कषाय मंद करेगा। (फलस्वरूप में) परिभ्रमण के चक्कर में से छूटेगा नहीं। भयंकर परिभ्रमण को प्राप्त करेगा।

श्रोता :- `भान होने पर स्वभावपरिणामी है' यह बात जो समझ में आ जाए तो जीव भान कर ले।

पूज्य भाईश्री :- Tone कितना सुंदर है ! `**भान होने पर स्वभावपरिणामी है।**' बस, इतना ही करना है। कितना करना है ?

भान करना है। भान किस तरह हो ? कि, जैसा है वैसा देखो। देखना ही है, करना कुछ नहीं। `अनुभव प्रकाश' में आएगा, कल आएगा। `मात्र निहारना है।' `निज अवलोकन !' निज का अवलोकन करो ! जैसा है वैसा। दूसरा कुछ नहीं करना है।

मैं मनुष्य नहीं, परंतु मुमुक्षु तो सही कि नहीं ? ना, मुमुक्षु भी नहीं, त्यागी भी नहीं, गृहस्था भी नहीं, मुनि भी नहीं, पंड़ित भी नहीं, मूर्ख भी नहीं, कोई नहीं। कोई भी कर्मजनित अवस्था मेरी नहीं। इसलिए `मूळ मारग...' (काव्य में) चारित्र को `अणलिंग' लिया है। चारित्र को कैसा बताया ? `अणलिंग !' चारित्र का कोई चिह्न नहीं। मुनिदशा चारित्र का चिह्न है कि नहीं ? कहते हैं कि, नहीं। `समयसार' की ४१३ (गाथा में) ना बोला। `पाषण्डिलिङ्गेषु' क्या कहा ? `पाषंड' शब्दमें से `पाखंड' शब्द आया। जो लिंग हैं वे सब पाखंड हैं। लिंग यानी वेश। यह सवस्त्र दशा, निर्वस्त्रदशा, यह पीतांबर, यह सफेद वस्त्र (धारी), यह फलाना... तिलक, जया वगेरे (पाखंड़ है)। आत्मा `अलिंग' है। इसलिए तो उसे `अलिंगग्रहण' कहा। `अलिंगग्राह्य' नहीं कहा, अलिंगग्रहण कहा। नाम दे दिया।

(यहाँ क्या कहते हैं ? `**भ्रांतिरूप से आत्मा परभाव का कर्ता होने से...**' भ्रांति से परभाव कर्तारूप हो जाता है और शुभाशुभ भाव होता है। उस शुभाशुभ भाव के निमित्त से शुभाशुभ कर्म भोगता है। कर्म उत्पन्न होते हैं, कर्म बंधते हैं। वह `**कर्म सफल होने से उस शुभाशुभ कर्म को आत्मा भोगता है।**' जो शुभाशुभ कर्म बंधे उसे, उसको भोगना पड़ेगा। इच्छा नहीं हो तो भी विवश होकर भोगना पड़ेगा। ऐसी बात है। सभान अवस्था में भी कभी जो अल्प कर्म बंधते हैं ना ? इसे भी भोगना पड़ता है, तो बेभानपने में जो

कर्म बंधते हैं उन्हें तो भोगना पड़ेगा ही पड़ेगा।

जैसे कि तीर्थंकर भगवान को तीर्थंकर प्रकृति का बंध सभान अवस्था में होता है, बेभान अवस्था में नहीं होता। ज्ञानदशा में तीर्थंकर प्रकृति बंधती है। कितनी ही कर्म प्रकृति ऐसी है कि जो अज्ञान अवस्था में बंधती ही नहीं। १४८ कर्म प्रकृति हैं। उसमें से २७ कर्म प्रकृति ऐसी है कि जो सम्यक्दृष्टि को ही बंधती है, मिथ्यादृष्टि को कभी नहीं बंधती। उसमें एक तीर्थंकर प्रकृति भी है। उसमें नाम और गोत्र दो होते हैं। नाम और गोत्र दोनो तीर्थंकर के होते हैं (अर्थात्) तीर्थंकर नाम कर्म और तीर्थंकर गोत्रकर्म। उसके उप भेद भी होते हैं। उनका शरीर सुंदर होता है, समचतुरस्त्रसंस्थान होते हैं। ऐसी बहुत बाते हैं।

जैसे कि सर्वार्थसिद्धि का भव। सर्वार्थसिद्धि की आयु सम्यक्दृष्टि को ही बंधती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं बंधती, क्योंकि वहाँ सारे सम्यक्दृष्टि ही होते हैं। वहाँ कोई मिथ्यादृष्टि नहीं होता। ये २७ प्रकृति हैं ये तो सम्यक्दृष्टि को ही बंधती है। दूसरे को उस प्रकार का पुण्य संचय नहीं होता। सब शुभ प्रकृति है, इसमें कोई अशुभ नहीं, इस प्रकार का पुण्य संचय सम्यक्दृष्टि को ही होता है, मिथ्यादृष्टि होने पर ४१ (प्रकृति का) नाश हो जाता है। सम्यक्दर्शन होते ही उसके बंध का विच्छेद हो जाता है। `तत्त्वानुशीलन' में लिया है। ४१ (प्रकृति) का नाश होता है। बाकी पाँचवें, छट्ठे सातवें, आठवें, नौवें, दसवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें ऐसे नौ गुणस्थान जो रहे, उन नौ गुणस्थान में बाकी की ८० प्रकृति जाएगी। कोई मैं छ, कोई में सात, कोई में आठ, कोई में नौ जाती है। एक एक गुणस्थान में इस तरह नाश होगी। जब पहला कदम रखा, मोक्षमार्ग की सीड्डी के पहले कदम पर

पैर रखा तो ४१ (प्रकृति को) उड़ाई। इतना बड़ा लाभ मोक्षमार्ग में प्रवेश करने वाले को होता है। १२१ (प्रकृतिमें से) एक तृतीय अंश (प्रकृति) गई। ८० रही ना ? ४० x ३ = १२० होती है ना ? सम्यक्दर्शन होते ही एक तृतीयाश प्रकृति के बंध का विच्छेद होता है। बाकी छोटी मोटी रही तो कोई गुणस्थान में छः जाएगी, कोई में आठ जाएगी, कोई में सात जाएगी (परंतु) जाएगी ही जाएगी। (मोक्षमार्ग के) प्रवेश में इतना लाभ है। इसलिए मोक्षमार्ग का प्रारंभ ही Grand gala opening है। क्या है ? हमलोग कहते हैं ना ? कोई Opening करते हैं ना ? तो कहते हैं कि, `हमारा Opening तो Grand gala openping होता है !' यानी कि बहुत अच्छा होता है। मोक्षमार्ग का Opening भी ऐसा ही है ! आनंदो...! आनंद करो ! खुश हो जाओ कि, सम्यग्दर्शन होते ही इतना बड़ा लाभ होगा !

`कर्म सफल होने से उस शुभाशुभ कर्म को आत्मा भोगता है।' इस पर से याद आया कि, तीर्थंकरदेव को तेरहवें गुणस्थान में (अथवा) सभी अरिहंतो को चाहे तीर्थंकर हो, चाहे सामान्य केवली हो (उनको) चार अधाति रहे ना ? ये चारों शुभ के उदय हैं। नाम, गोत्र, वेदनी और आयु - इन चारों में शुभ का उदय होता है। चारों शुभ प्रकृति उदय में बाकी रह गई, उन्हें भोगना पड़ता है। कब तक ? कि, कभी कभी तो अरबों वर्षों तक भोगना पड़ता है।

जैसे कि `सीमंधरस्वामी' हैं। अरिहंत होने के बाद आयुष्य के १६ लाख पूर्व बाकी रहे। (कुल) एक करोड़ पूर्व की आयु है। ८४ लाख पूर्व छद्मस्थ अवस्था में गए। १६ लाख पूर्व हैं ये अरिहंत अवस्था में बाकी रहे हैं। इसे भोगना पड़ेगा। कर्म सफल हैं, निष्फल नहीं जाते। भले ही उन्होंने सम्यग्दर्शन होने के बाद इस आयु

का, गोत्र का, नाम का बंध बाँधा है तो भी १६ लाख पूर्व तक (भोगना ही होगा)। एक पूर्व में अरबों के अरबों वर्ष होते हैं। कितने ? एक पूर्व में अरबों के अरबों वर्ष होते हैं। वे पूरे होंगे तब सिद्धालय में जाएँगे, उसके पहले नहीं जाएँगे। (अतः कहा कि) कर्म सफल है। आयु का बंधन है वह छूटेगा नहीं। आत्मा उसको भोगता है। हालाँकि वीतराग भाव होने के कारण उसका दुःख नहीं होता। सरागभाव में कर्म फल भोगते वक्त आत्मा को दुःख होता है। वीतरागता में उसका दुःख नहीं होता। इसलिए (बाह्य) सुख-दुःख से कोई प्रयोजन नहीं रहा। यह तो एक जानने की बात है।

प्रश्न :- भाईश्री ! आपने कहा कि सभानपने में जो कर्मबंधन होते हैं उनको भी भोगना पड़ता है, तो जितना सभानपना है उसके कारण कर्मों की निर्जरा होती है, यह बात भी है ना ?

समाधान :- निर्जरा बहुत होती है, बंध बहुत अल्प होता हैं, बहुत अल्प होता हैं। तो भी अघाति की स्थिति बहुत लंबी पड़ती है। कर्म का गणित बहुत विचित्र है। घाति की स्थिति, अघाति की स्थिति उसमें विचित्रता बहुत है। आयुष्य, नाम, गोत्र ये अघाति में जाते हैं। उनकी स्थिति लंबी पड़ती है। बहुत लंबा आयुष्य होता है। देवलोक में जाए तो सागरोपम का आयुष्य होगा। यह (आयु) तो मनुष्य से भी बड़ी है। यह जो एक करोड़ पूर्व है ना वह भी इसके सामने बहुत कम है। ऐसे सागरोपम के आयुष्य होते हैं। तैतिस सागर की स्थिति में सर्वार्थसिद्धि के देव जाते हैं ! तैतिस सागर तक की जेल !! कैदी बन गया। वहाँ से छूटेगा नहीं। उनको तो अवधिज्ञान होता है। सबसे अच्छा अवधिज्ञान तो वहाँ होता है। अतः पता है कि, यहाँ आयुष्य पूरा होगा, फिर मनुष्य होगा और उस मनुष्यभव में मेरी मुक्ति हो जाएगी। तो भी

यहाँ तैतिस सागर तक बंधनमें से हिल नहीं सकते, छूट नहीं सकते। कोठरीमें से बाहर नहीं आ सकते। ये बात है।

प्रश्न :- First class जेल होने पर भी !

समाधान :- पिंजरा सोने का हो चाहे लोहे का हो, बेड़ी सोने की हो या लोहे की हो, क्या फायदा ? आपको सोने की बेड़ी पहनाएंगे, खुश हो जाओ ! पुरुष हो उसे यदि बेड़ी पहनाए तो हो गई चूड़ी ! अच्छा लगेगा ? पुरुष को चूड़ी शोभा देती है ? तो बेड़ी पहनाई तो क्या हुआ ?

श्रोता :- पुरुष जो पुरुषार्थ नहीं करे तो पहना दी जाएगी !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यदि पुरुष पुरुषार्थ नहीं करेगा तो चूड़ी पहना दी जाएगी !! ये तो अभी `स्त्री' कहा है, बाकी `कुंदकुंदाचार्य' जैसे महान आचार्योंने `नामर्द' कहा है ! `स्त्री' भी नहीं कहा !! उसको `नामर्द' कहा है। नपुंसक, हिजड़ा जिसे कहते हैं। ऐसा कहा है। उसे नपुंसक कहा है। उसके लिए संस्कृत में शब्द है `**क्लीव**' कहा है। इस शब्द का प्रयोग किया है। उसका अर्थ होता है - `नपुंसक !' `जो पुरुषार्थ नहीं कर सकता वह नपुंसक है।' ऐसा कहा है। बहुत कड़क शब्द का भी प्रयोग किया है। इसमें भी आचार्यों की पुरुषार्थ जगाने का हेतु है।

श्रीगुरु जगाते हैं, जाग्रत करते हैं कि, तू देख ! अनंत वीर्य का तू धनी है ! अनंत पुरुषार्थ की तेरी ताकत है ! अब तू सम्यग्दर्शन पाने जितना मामूली पुरुषार्थ नहीं करता ?! यह तो प्रारंभ की - पहेली सीढ़ी की बात है। उमसें तो कोई व्रत नहीं, तप नहीं, कोई कठिनाई नहीं। अरे...! पंच परमेष्ठी का नाम नहीं लेगा तो भी चलेगा !

श्रोता :- नाम लेना आसान है, प्रकृति को छोड़ना मुश्किल है।

पूज्य भाईश्री :- प्रकृति में भी क्या है कि, अनंतानुबंधी की जाति बदल जाती है। क्रोध, मान, माया, लोभ रहता है।

श्रोता :- यह बात तो दूर की है, हमको तो लक्ष बाँधना मुश्किल पड़ता है।

पूज्य भाईश्री :- तो फिर क्लीव कहेंगे ही कहेंगे, इसमें क्या है ? तो पुरुषार्थ करे वह चाहे स्त्री हो, चारे नपुंसकर हो, वही पुरुष हैं। नारकी में सब नपुंसक ही होते हैं। नारकी में एक ही जाति है। देवलोक में देव और देही दोनों होते हैं। ऊपर के देवलोक में देवियाँ नहीं होती, सिर्फ देव होते हैं। जैसे कि सर्वार्थसिद्धि है तो वहाँ कोई देवियाँ नहीं होती। सब पुरुष ही होते हैं। जब कि नारकी में सब नपुंसक होते हैं। परंतु वहाँ भी सम्यग्दर्शन प्रगट करने वाला `पुरुष' जो है। वह नपुंसक नहीं कहलाते, वह पुरुष है। वह धर्मात्मा हैं, वह वंदनीय हैं, पूजनीय हैं। ऐसी बात है। यह बात हुई जो कि आत्मा के पुरुषार्थ की बात हुई।

`उत्कृष्ट शुभ से उत्कृष्ट अशुभ तक के सर्व न्यूनाधिक पर्याय भोगने रूप क्षेत्र अवश्य है।' इस विश्व में भोग्यस्थान रूप क्षेत्र होते हैं। वे कैसे-कैसे हैं ? कि, उत्कृष्ट शुभ से उत्कृष्ट अशुभ तक की जितनी Range है उन सबका फल भोगने का स्थान है। सातवीं नरक से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक जो भी चौदह ब्रह्मांड हैं ये सारा कर्म का भोग्यस्थान है। कर्म के फल को भोगने का स्थान है। वह भी अवश्य है। उसमें भी कोई शंका करने की गुंजाइश नहीं है। लोग कहते हैं ना कि, `स्वर्ग - नरक किसने देखा है ? कौन जाने स्वर्ग है कि नहीं, नरक है कि नहीं ?' ऐसा नहीं है, सब

है। `**अवश्य है**' ऐसा लिखा है। `अवश्य' शब्द क्यों लिखा ? क्योंकि लोग शंका करते हैं - ऐसा होगा कि नहीं होगा, क्या पता ?

उत्कृष्ट शुभ से लेकर उत्कृष्ट अशुभ तक के फल हैं उसके हीन-अधिक ऐसे बहुत से भेद हैं, उसमें असंख्या भेद हैं। कितने ? असंख्य भेद हैं। शुभ के भी असंख्य भेद हैं, अशुभ के भी असंख्य भेद हैं, प्रकार हैं। भेद यानी प्रकार हैं। उन सबका फल भोगने का क्षेत्र भी है। ऐसा नहीं कि, कोई व्यवस्था नहीं है। सब अपराध हैं, दोनों ही अपराध हैं और दोनों अपराध के फल को भोगने की व्यवस्था कुदरत के घर में है ही। कोई परिणाम निष्फल नहीं और उसके फल को भोगने की व्यवस्था अनादि से अनादि अनंत विश्व में है ही।

`**निजस्वभाव ज्ञान में केवल उपयोग से तन्मयाकार, सहज स्वभाव से, निर्विकल्प रूप से आत्मा जो परिणमन करता है, वह केवलज्ञान है।**' यह केवलज्ञान की परिभाषा लिखी। ज्ञानी उसे भी अनेक प्रकार से लिखते हैं। केवल यानी मात्र। `**केवल निजस्वभावनुं, अखंड वर्ते ज्ञान। कहिए केवलज्ञान ते, देह छतां निर्वाण।।**' (`आत्मसिद्धि शास्त्र' गाथा-११३) देह सहित मोक्ष !

यहाँ तो केवलज्ञान को कितने सारे विशेषण लगाए हैं ! `**निज स्वभावज्ञान में केवळ उपयोग**' (अर्थात्) उपयोग का एक अंश भी निज स्वभाव को छोड़कर अन्य किसी को विषय नहीं करता। जैसे कि केवलज्ञान लोकालोक को जानता है। (परंतु) उपयोगपूर्वक नहीं जानता। (यानी कि) उपयोग नहीं देता। केवलज्ञानी जगत के पदार्थ पर उपयोग नहीं देते। उपयोग तो देते नहीं परंतु उपयोग का एक अंश भी वहाँ देने में नहीं आता कि, इसे जाने ! फिर भी दर्पण में जैसे अन्य पदार्थ का प्रतिबिंब सहज उठता है उस तरह

शुद्ध निर्मल ज्ञान में लोकालोक का प्रतिबिंब सहज झलक जाता है। सहज ही झलक जाता है, इतनी बात है। उपयोग (वहाँ) जाता नहीं। कारण कि केवल उपयोग है। किसमें ? निज स्वभाव में। निज स्वभाव का ज्ञान है उसमें ही उपयोग है। ज्ञान में ही उपयोग है। बाहर उपयोग गया नहीं।

`**तन्मयाकार**' होते है। तन्मयाकार यानी स्वरूप में तन्मय-लीन (होते हैं)। उपयोग के एक अंश में भी चंचलता नहीं होती। पूरे तन्मय होते हैं। आत्माकार ! केवलज्ञान में परिपूर्ण लीनता (है)। लीनता (है)। लीनता भी परिपूर्ण (है), अधूरी लीनता नहीं। साधक अवस्था में लीनता अधूरी होती है। केवलज्ञान होता है तब लीनता (पूर्ण होती है)। लीनता तो बारहवें गुणस्थान में पूर्ण हो जाती है। केवलज्ञान में तो होती ही हैं। चारित्रगुण है वह बारहवें गुणस्थान में पूर्ण परिणमित होता है। परिपूर्ण शुद्ध होता है। पूरा शुद्ध परिणमन होता है। चारित्रगुण की पर्याय को ही लीनता कहते हैं। लीनता है वह चारित्रगुण की पर्याय है। केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में होता है। बारहवें गुणस्थान के आखरी समय पूर्ण लीनता हुई और तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में केवलज्ञान हुआ। एक समय का अंतर है, परंतु चारित्र पहले पूर्ण होता है।

`**सहज स्वभाव से**' यानी कृत्रिमरूप से नहीं। सहजस्वरूप से सहज परिणमन ऐसा होता है। स्वाभाविक परिणमन से (केवलज्ञान का परिणमन होता है)।

`**निर्विकल्परूप से**' (यानी) उसमें कोई विकल्प भी नहीं। परिपूर्ण निर्विकल्पता ! निर्विकल्पता भी परिपूर्ण ! इस रूप से जो आत्मा परिणमन करता है उस परिणमन को केवलज्ञान कहा जाता है। यह केवलज्ञान का स्वरूप बताया है। इस वचनामृत में केवलज्ञान

का स्वरूप बताया है कि, केवलज्ञान ऐसा होता है। भगवान जिसे तेरहवें गुणस्थान का केवलज्ञान कहते हैं वह ऐसा है।

अब `सम्यक्त्व' किसे कहते हैं ? (वह कहते हैं), `**तथारूप प्रतीतिरूप से जो परिणमन करता है वह सम्यक्त्व है।**' ऊपर जो केवलज्ञान की बात कहीं उसमें `**सहजस्वभाव से**' बात आई ना ? `**सहजस्वभाव से** !' यह स्वभाव की भी प्रतीति आई और मोक्ष की भी प्रतीति आई। उसके बीच में जो कोई अवस्था है उसकी भी प्रतीति हो गई। बिना कहे ही ! तथारूप प्रतीति ! उसे क्या कहा `**तथारूप प्रतीति** !'

तथारूप प्रतीतिरूप श्रद्धागुण जो परिणमन करता है अथवा प्रतीतिरूप परिणमन जिसका होता है उसे `सम्यक्त्व' कहा जाता है। यह सम्यक्त्व है, जिसमें स्वरूप की भी प्रतीति है और केवलज्ञान की भी प्रतीति है। सर्वोत्कृष्ट दशा की भी प्रतीति है और स्वयं के मूल स्वरूप की भी प्रतीति है। ऐसे प्रतीति भाव को ही सम्यक्त्व कहा जाता है। वह सम्यक्त्व है। बहुत ही संक्षेप में यह सम्यक्त्व की परिभाषा है। बाकी सम्यक्त्व का विषय तो बहुत गहरा है और विशाल भी इतना ही है।

जिस कारण अनंत गुणों का परिणमन में सम्यक्पना आ जाता है, वही सम्यक्त्व का प्रभाव है, परिणमन में वही सम्यक्त्व का प्रभाव है !! ऐसा प्रतीतिरूप सम्यक्त्व हुए बिना अंग-पूर्व का ज्ञान हो तो भी मिथ्याज्ञान है और अट्ठाइस मूल गुण और शुद्ध मुनिपना पालें तो भी मिथ्याचारित्र है। सम्यक्त्व होने के बाद एक व्रत, तप या पच्चखाण न हो और नव तत्त्व के भेद वाली समझणरूप ज्ञान न हो तो भी उनका ज्ञान और चारित्र दोनों सम्यक् हैं। इतना सम्यक्त्व का प्रभाव है !

`सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व' सारे गुणों का कोई न कोई अंश शुद्धरूप से परिणमन करने लगता है उसे ही सम्यक्त्व कहा जाता है। यह मूल गुण है। आत्मा के सारे गुणों में प्रधान गुण भले ज्ञान हो परंतु मूल गुण तो सम्यक्त्व है। ऐसी बात है। `**दंसण मूलो धम्मो**' धर्म का मूल, मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है - सम्यक्त्व है।

प्रश्न :- यह सम्यक्त्व होने से ही कोई भी परिणमन में भिन्नत्व रहता है ना ?

समाधान :- हाँ, सम्यक्त्व से क्या होता है कि, आत्माभिमुखता छूटती नहीं, आत्मसन्मुखता मिटती नहीं। जब आत्मसन्मुखता रहेगी तो बाहर में पूरा का पूरा किस तरह जुड़ेगा ? सम्यक्त्व में अंदर जुड़ना होती है तो बाहर में किस तरह जुड़ेगा ? सीधी बात है।

प्रश्न :- उपयोग बाहर जाता है परंतु खींचाव अंदर रहता है ?

समाधान :- उपयोग है वह भी ज्ञानपर्याय का एक अंश है। इस ज्ञानपर्याय का लब्ध अंश तो आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। आज सुबह चलने गए तब लब्ध-उपयोग की बहुत चर्चा-चली, सुबह बहुत चर्चा चली थी।

`**तथारूप प्रतीतिरूप से जो परिणमन करता है वह सम्यक्त्व है।**' मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व के कारण सारे गुण शुद्ध हो जाते हैं और उनकी शुद्धता वृद्धिगत होती रहती है। सम्यक्त्व के कारण उनकी शुद्धता वृद्धिगत होती रहती है। क्यों ? क्योंकि हर समय सम्यक्त्व परिणमन करता है ना ! इसलिए उसका पुट लगता है। दवाई को जैसे पुट देने में आता है तो दवा की ताकत बढ़ती है। जैसे कहा जाता है ना - `सहस्त्रपुटी अबरख भस्म' तो अबरख

तो अबरक है, परंतु उसे अग्नि का पुट दिया यानी आँच दी। राख हो जाए तो फिर से उतनी ही अग्नि का पुट देने में आए। इस तरह हज़ार बार अग्नि दी। फिर जो राख हुई उसमें ताकत बहुत होती है। टी.बी. में - क्षय रोग में जिसके फेफडे रक्तम हो गए हैं उसे ठीक कर देगी। उसे अबरक भस्म देते हैं। आयुर्वेद में जिसे क्षय रोग होता है उसे अबरक भस्म खिलाते हैं तो ठीक हो जाता है। अबरक का बहुत सी जगह प्रयोग होता है।

अब सम्यक्त्व के भेद यानी प्रकार कितने कितने हैं (वह कहते हैं)। इन तीन प्रकारों का आगे वर्णन करेंगे। यहाँ तक रखते हैं।

प्रवचन - ९ दि. २५-१२-१९९५
पत्रांक-७१० (५)

`श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत, आंक-७१०। आगम की भाषा से सम्यक्त्व के तीन भेद हैं, तीन प्रकार हैं। उनकी यहाँ व्याख्या करते हैं और परिणाम की प्रधानता से करते हैं। क्योंकि तीनों भेद तो आगम पद्धति में जाते हैं। अध्यात्म पद्धति में सम्यक्त्व के तीन भेद नहीं है। सम्यक्त्व एक ही प्रकार का होता है।

अध्यात्म और आगम में क्या अंतर है ? आगम है यह कर्म के साथ परिणाम, परिणमन का किस प्रकार का संबंध है ? द्रव्य कर्म की अवस्था के साथ क्या संबंध है ? ऐसे दृष्टिकोण से जो भी कथन या व्याख्या आती है उसे `आगमपद्धति' कहते हैं। शुद्धात्मा के अनुभव से, शुद्धात्मा के अवलंबन से उन्हीं परिणामों की चर्चा होती है उसे `अध्यात्मपद्धति' कहते हैं। ये तीन प्रकार हैं वे आगम पद्धति में जाते हैं। फिर भी `कृपालुदेव' ने परिणमन के साथ, इन तीनों प्रकार में परिणमन में किस प्रकार की बातो होती हैं, उसकी प्रधानता से यहाँ तीन प्रकार दिखाए हैं, दर्शाए हैं।

`**निरंतर वह प्रतीति रहा करे,...**' किसकी ? आत्मस्वरूप की। निरंतर प्रतीति रहा करे `**उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।**' क्षायिक सम्यक्त्व कभी जाता नहीं। सादी अनंत काल उसकी प्रतीति निरंतर

रहती है। क्यों ? (क्योंकि) वहाँ मिथ्यात्व प्रकृति का और अनंतानुबंधी की प्रकृति का, सातों प्रकृति का (अर्थात्) तीन मिथ्यात्व की और चार अनंतानुबंधी की, सातों द्रव्यकर्म की प्रकृति का क्षय हो चूका है। यानी कि, मूलमें से नाश हो गया है। अतः उसे `क्षायिक समकित' कहते हैं। वह क्षायिक सम्यक्त्व का परिणमन ऐसा है कि वह सादि अनंत काल पर्यंत निरंतर रहता है। जब से उत्पन्न होता है (तब से) अनंत काल तक वह निरंतर रहता है। इसलिए उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

**`क्वचित् मंद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विसर्जन, क्वचित् स्मरणरूप, ऐसी प्रतीति रहे उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।'** अर्थात् इन सात प्रकृति में कितनी ही प्रकृति का उपशम होता है, कितनी ही प्रकृति का क्षय होता है उसे `क्षयोपशम समकित' कहते हैं और उस क्षयोपशम समकित के काल में प्रतीति क्वचित् मंद होती है, क्वचित् तीव्र होती है। अर्थात् कभी जोर से प्रतीति का परिणमन होता है। कभी मंद परिणमन दिखता है तो कभी क्षयोपशम समकित का नाश भी हो जाता है, उसे विसर्जन कहते हैं; तो वहाँ क्षयोपशम समकित नहीं रहा। क्वचित् स्मरणरूप यानी उसका नाश होने के बाद उसका स्मरण आता है कि, मेरी सम्यक्त्व दशा ऐसी थी। उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहा जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व वाले को ऐसे परिणाम होते हैं।

प्रश्न :- एकदम विस्मरण हो जाए तो पहले गुणस्थान में नहीं आ जाए ?

समाधान :- यह तो विसर्जन हुआ - नाश हुआ यानी पहले गुणस्थान में तो आ ही गया। परंतु वह क्षयोपशम था इसलिए विसर्जन हुआ।

प्रश्न :- याद आ सके परंतु परिणमन न रहे, तो उसे क्षयोपशम समकित कह सकते हैं ?

समाधान :- नहीं, परंतु क्षयोपशम समकित वाले को ऐसा परिणमन होता है। इतनी बात है। ऐसा स्मरण रहता है।

प्रश्न :- किस प्रकृति का नाश होता है ? हर एक में अलग अलग होता है ?

समाधान :- इसमें ऐसा है कि, सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहता है और शेष जो छः उसमें कोई का क्षय और कोई का उपशम (होता है)। क्षय और उपशम दोनों में अभाव ही है, उदय अभाव है। उदय एक ही प्रकृति का रहता है। जिसे `समकित वेदनी' प्रकृति कहा जाता है। वह घाति प्रकृति नहीं है, जो सम्यक्त्व का घात नहीं करती।

प्रश्न :- तीनों प्रकृति को समझाय ना !

समाधान. मिथ्यात्व, सम्यक्त्व वेदनी और मिश्र। इसमें जो समकित वेदनी है उसका उदय रहता है। मिश्र और मिथ्यात्व का नाश होता है।

प्रश्न :- नाश कि उपशण ?

समाधान :- उपशम में भी उदय नहीं होता और क्षय में भी उदय नहीं होता। या तो क्षय होता है, या तो उपशम होता है।

प्रश्न :- सम्यक्त्व मोहनी के उदय से क्या होता है ?

समाधान :- कुछ नहीं, कोई फरक नहीं पड़ता। परंतु भगवान ने देखा है कि उसे समकित वेदनी का उदय है, समकित मोहनी का उदय है तो तीव्र-मंदता होती है, इतना फ़र्क पड़ता है। समकित कमज़ोर होने से उसका अभाव भी हो जाता है और अभाव होता है तो उसका स्मरण रह भी सकता है और नहीं भी रहता है

दोनों बात बनती है।

प्रश्न :- सम्यक्त्व तो शुद्ध ही होता है ना ?

समाधान :- हाँ, प्रतीति एकदम स्पष्ट है। प्रतीति का विषय भी शुद्धात्मा है और प्रतीति भी पूरी है, अधूरी नहीं। परंतु उसमें तीव्र-मंदता आ सकती है।

जिसे क्षयोपशम समकित है उसे तो ऐसा लगता है कि, मुझे मेरे आत्मस्वरूप की बराबर प्रतीति है और उसमें मुझे कोई भी शंका का स्थान नहीं है। उसे तो ऐसा ही लगता है। ऐसे सूक्ष्म कथन भी हैं, सूक्ष्म कथन में ऐसी बात है कि, कुछ श्रद्धान का मल है जो केवली गम्य है। न तो खुद को पता चलता है और न ही दूसरे को भी पता चलता है। वह बात अप्रयोजनभूत है। अनुभव में तो बराबर प्रतीति होती है, इसमें कोई फ़र्क नहीं दिखता।

**`उस प्रतीति को जब तक सत्रागत आवरण उदय में नहीं आया तब तक उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।'** सातों प्रकृति के द्रव्यकर्म सत्ता में चले जाते हैं। किसी का उदय नहीं रहता, उदय का अभाव रहता है। परंतु सत्ता में सातों प्रकृतियाँ रही है। उसे `उपशम सम्यक्त्व' कहते हैं और प्रथम ऐसा ही होता है। सबसे पहले सम्यक्त्व होता है वह उपशम सम्यक्त्व ही होता है और सातों प्रकृति दब जाती है। सत्ता में दब कर रहती है यानी कि उसकी विद्यमानता रहती है, उदय नहीं रहता। ऐसी स्थिति होती है। यह जानने का विषय है, यह सिर्फ जानने का विषय है। दूसरी कोई खास बात इसमें नहीं है। इसलिए थोड़ा स्पष्टीकरण देते हैं, उस पर ज्यादा चर्चा नहीं करते।

`अत्यंत प्रतीति होने के योग में सत्तागत अल्प पुद्गल का वेदन जहाँ रहा है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।' क्षयोपशम सम्यक्त्व

का दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व भी कहा जाता है। उसमें अल्प प्रकृति का यानी कि समकित मोहनी का वेदन रहता है। समकित मोहनी के जो परमाणु हैं उनका वेदन अर्थात् उसमें जुड़ना होता है। उसे `वेदक सम्यक्त्व' भी कहा जाता है और उसे `क्षयोपशम सम्यक्त्व' भी कहा जाता है।

`**तथारूप प्रतीति होने पर अन्य भाव संबंधी अहंत्व-ममत्व आदिका, हर्ष-शोक का क्रमशः क्षय होता है।**' ऐसी प्रतीति होने पर अन्यभाव संबंधी जो अहंपना और ममत्वपना आदि जो कोई प्रकार है अथवा चारित्र मोह के हर्ष, शोक के जो प्रकार हैं, उसका भी क्रमशः धीरे धीरे उनका भी नाश हो जाता है। ऐसी प्रतीति होने पर चारित्रमोह के दोष का भी क्रमशः नाश होगा। एक साथ नाश नहीं होता परंतु क्रमशः नाश हो ही जाएगा।

`**मनरूपी योग में तारतम्य सहित जो कोई चारित्र की आराधना करता है वह सिद्धि पाता है। और जो स्वरूप स्थिरता का सेवन करता है वह स्वभावस्थिति प्राप्त करता है।**' अस्ति-नास्ति से एक ही बात की है। मनरूपी योग में यानी जो उपयोग है उसके तारतम्यसहित। तारतम्य यानी डिग्री। उग्रता से कोई चारित्र की आराधना करता है तो उसे सिद्धि की प्राप्ति होती है। अर्थात् आगे जाने पर अपने निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। उस डिग्री में अस्ति से देखो तो वह स्वरूपस्थिरता करती है। स्वरूपस्थिरता का सेवन करता है तो वह स्वभावस्थिति (पाता है), स्वभावस्थिति कहो यानि निर्वाणपद कहो, उसकी प्राप्ति उसे होती है। यह बात कही चाहित्र की।

`**निरंतर स्वरूप लाभ, स्वरूपाकार उपयोग का परिणमन इत्यादि स्वभाव अंतराय कर्म के क्षय से प्रगट होते हैं।**' यह मोक्ष की

पर्याय हुई। अंतराय कर्म का नाश होने से मोक्ष की पर्यया प्रगट हुई। निरंतर स्वरूपलाभ रहा करता है। परिपूर्ण - पूर्ण स्वरूप का लाभ हो। इस लाभ में कोई कमी नहीं होती। कमी कहाँ तक होती है ? अंतराय कर्म का उदय हो तब तक। स्वरूपाकार उपयोग (यानी) सारे गुणों का स्वरूपाकार उपयोग है। ऐसा जो परिणमन है, इत्यादि स्वभाव पूर्ण प्रगट हो गया। वह अंतराय कर्म के क्षय होने पर प्रगट होता है। यदि अंतराय कर्म का संपूर्ण नाश हो जाये तो पूर्ण स्वभावरूप परिणमन प्रगट हो गया और पूर्ण स्वरूप लाभ मिलने लगा, प्राप्त होने लगा। यह मोक्ष की परिभाषा हुई।

**`जो केवल स्वभावपरिणामी ज्ञान है वह केवलज्ञान है... केवलज्ञान है।'** निरंतर केवल स्वभावपरिणामी ज्ञान (अर्थात्) जैसा पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव है वैसा ही ज्ञान में परिणमन हुआ। उसे `केवलज्ञान' कहा जाता है। ज्ञान गुण पूरा का पूरा प्रगट हो गया, निरावरण हो गया। यह केवलज्ञान है।

इस तरह इस नोंध में अनेक प्रकार के भावों की परिभाषा, भावों की व्याख्या `कृपालुदेव'ने स्वयं के दृष्टिकोण से, खास दृष्टिकोण से की है। (यहाँ) ७१० (पत्रांक) पूरा होता है।

ववाणिया, ज्येष्ठ सुदी १, शनि, १९५४

सर्व द्रव्य से, सर्व क्षेत्र से, सर्व काल से और सर्व भाव से अप्रतिबद्ध होकर निजस्वरूप में स्थित हुए उन परम पुरुषों को नमस्कार।

जिन्हें कुछ प्रिय नहीं है, जिन्हें कुछ अप्रिय नहीं है, जिनका कोई शत्रु नहीं है, जिनका कोई मित्र नहीं है, जिन्हें मान-अपमान, लाभ-अलाभ, हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वों का अभाव होकर जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थित हुए हैं, स्थित होते हैं, और स्थित होंगे उनका अति उत्कृष्ट पराक्रम सानंदाश्चर्य उत्पन्न करता है।

देह से जैसा वस्त्र का संबंध है, वैसा आत्मा से देह का संबंध जिन्होंने यथातथ्य देखा है, म्यान से तलवार का जैसा संबंध है, वैसा देह से आत्मा का संबंध जिन्होंने देखा है, अबद्ध-स्पष्ट आत्मा का जिन्होंने अनुभव किया है, उन महत्पुरुषों को जीवन और मरण दोनों समान हैं।

जिस अचिंत्य द्रव्य की शुद्धचितिस्वरूप कांति परम प्रगट होकर अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परमकृपालु सत्पुरुषने प्रकाशित किया उसका अपार उपकार है।

चंद्र भूमिको प्रकाशित करता है, उसकी किरणों की कांति के प्रभाव से समस्त भूमि श्वेत हो जाती है,

परंतु चंद्र कुछ भूमिरूप किसी काल में नहीं होता; इसी प्रकार समस्त विश्व का प्रकाशक ऐसा यह आत्मा कभी भी विश्वरूप नहीं होता, सदा-सर्वदा चैतन्यस्वरूप ही रहता है। विश्व में जीव अभेदता मानता है यही भ्रांति है।

जैसे आकाश में विश्व का प्रवेश नहीं है, सर्व भाव की वासना से आकाश रहित ही है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुषों ने प्रत्यक्ष सर्व द्रव्य से भिन्न, सर्व अन्य पर्याय से रहित ही आत्मा देखा है।

जिसकी उत्पत्ति किसी भी अन्य द्रव्य से नहीं होती, ऐसे आत्मा का नाश भी कहाँसे हो ?

अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मात्र मृत्यु की भ्रांति है। उसी भ्रांति को निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निजअनुभवप्रमाणस्वरूप में परम जाग्रत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है। इसी स्वरूप के लक्ष्य से सर्व जीवों के प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है। सर्व परद्रव्य से वृत्ति को व्यावृतत् करके आत्मा अक्लेश समाधि को पाता है।

जिन्होंने परमसुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शांत, शुद्ध चैतन्यस्वरूप समाधि को सदा के लिये प्राप्त किया उन भगवंत को नमस्कार, और जिनका उस पद में निरंतर ध्यानरूप प्रवाह है उन सत्पुरुषों को नमस्कार।

सर्वसे सर्वथा मैं भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट, अचिंत्य सुखस्वरूप मात्र एकांत शुद्ध अनुभवरूप मैं हूँ, वहाँ विक्षेप क्या ? विकल्प क्या ? भय क्या ? खेद क्या ? दूसरी अवस्था क्या ? मैं मात्र निर्विकल्प शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध परमशांत चैतन्य हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। मैं निजस्वरूपमय उपयोग करता हूँ। तन्मय होता हूँ। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

प्रवचन - १० दि. २६-०२-१९९७
पत्रांक-८३३ (१)

(`श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत), पत्रांक-८३३। `**सर्व द्रव्य से, सर्व क्षेत्र से, सर्व काल से और सर्व भाव से जो सर्वथा अप्रतिबद्ध होकर निजस्वरूप में स्थित हुए उन परम पुरुषों को नमस्कार।**' प्रथम वचन में वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को नमस्कार किया है

कि जो परम पुरुष हैं अर्थात् सर्वोत्कृष्ट आत्मा हैं। जो स्वयं के स्वरूप में स्थिर हो गए हैं और जगत के सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव में जिनके परिणाम बिलकुल प्रतिबद्ध नहीं होते। प्रतिबद्ध नहीं होते यानी कि लगते नहीं। कोई भी अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में वीतराग सर्वज्ञ परम पुरुष के परिणाम नहीं लगते।

अनादि से संसारी जीवों की स्थिति यह है कि, सबके परिणाम अन्य द्रव्य में लगते हैं, अन्य क्षेत्र में लगते हैं, अन्य भाव में लगते हैं, स्वयं के स्वरूप में नहीं लगते हैं। संसार में जीवों की यह गलत है। जो वीतराग सर्वज्ञ होते हैं वे एक ऐसा अलौकिक पुरुषार्थ करते हैं (अर्थात्) सब पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिणाम को छुड़ाकर अपने स्वरूप में लगाते हैं, स्थिर हो जाते हैं। ऐसा होना यह कोई अलौकिक पुरुषार्थ का पराक्रम है, कोई साधारण बात नहीं है। साधारण बात इसलिए नहीं है क्योंकि परद्रव्य के प्रति जीव के परिणाम सुखबुद्धि के कारण लगते हैं, आधारबुद्धि के कारण लगते हैं। कोई न कोई संयोग को हमने आधार बना लिया है और हमारी सुखबुद्धि भी वहाँ है। अतः परिणाम को वैसे निश्चित किए हुए पदार्थों के प्रति प्रतिबद्ध होना अनिवार्य हो जाता है। बिना विचार किये परिणाम दौड़ते हैं, चले जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में वीतराग सर्वज्ञ पुरुषने स्वयं के स्वरूप में परिणाम को समेट लिया है, (बाहर जाने की) स्थिति बंद कर दी। यहाँ ज्ञानीपुरुष भी उनको नमस्कार करते हैं कि, ऐसे परम पुरुष को हम नमस्कार करते हैं।

परिणाम जितने परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में लगते हैं उतने परिणाम उतने प्रमाण में - उतने अनुपात में दूषित होते हैं, दोष

की उत्पत्तिभी यहीं से होती है। सुखबुद्धि के कारण, आधारबुद्धि के कारण, अपनत्व के कारणऔर कर्ता - भोक्ताबुद्धि के कारण परिणाम लगते हैं और परिणाम में दोष की उत्पत्ति (होती है)। मोह, राग, द्वेष आदि मलिन परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस मलिनता के कारण जीव को स्वयं को दुःख होता है और उसके फल स्वरूप चारों गति में परिभ्रमण करने की परिस्थिति को रोका नहीं जा सकता। बंद नहीं कर सकता।

इस जीवन में जितना राग, द्वेष, मोह किया, उसे भोगने के लिए - बाँदे हुए कर्मों को भोगने के लिए आयुष्य पूरी होते ही अनिवार्यरूप से जाना पड़ेगा (और) अधिकांश जीव दुर्गति में चले जाते हैं। जो जीव सम्यक्मार्ग में नहीं आते ऐसे जीव दुर्गति में चले जाते हैं और वहाँ बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसे दुःखों से बचाने के लिए ज्ञानियों ने, निष्कारण करुणा से सच्चा रास्ता बताया है। यदि किसी को दुःख से छूटना है; दुःख से छूटना है इसका अर्थ यह नहीं कि, अनुकूलता प्राप्त करनी है और प्रतिकूलता मिटानी है ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो आकुलता से, Tension के दुःख से, आकुलता के दुःख से छूटना हो और निराकुल सुख, शांति, किसी भी हालत में निराकुल सुख, शांति अंदर से प्राप्त हो, बाह्य परिस्थिति की जिसमें अपेक्षा न हो, ऐसे आत्मिक सुख की जिसे अभिलाषा है उसके लिए ज्ञानियों ने सच्चे मार्ग का निर्देष किया है कि, यह मार्ग है, यह उपाय है, जिसकी भावना हो, चले जाओ !

(`कृपालुदेव' इस वचनामृत में) ज्ञानी की प्रशंसा करते हैं। पहले भगवान की - वीतराग सर्वज्ञ की प्रशंसा की, स्तुति की नमस्कार किया। अब जो ज्ञानी हैं, मुनिराज हैं (उनकी स्तुति करते हैं)।

`**जिन्हें कुछ प्रिय नहीं है, जिन्हें कुछ अप्रिय नहीं है,...**'जगत का कोई पदार्थ जिन्हें प्रिय नहीं है, जगत का कोई पदार्थ जिन्हें अप्रिय नहीं है। वास्तव में कोई पदार्थ प्रिय-अप्रिय हो ऐसा है भी नहीं। क्यों ? (क्योंकि) जो पदार्थ है वह परमाणुस्वरूप है। ये परमाणु परमाणु की अवस्थाएँ अपनी योग्यता अनुसार परिणमन कर रही हैं। जीव को तो कुछ लेना-देना है ही नहीं। वह अचेतन है, जीव चेतन है। (सिर्फ) कल्पना कर लेता है कि, यह ठीक है, यह ठीक नहीं है - यह कल्पना है। वास्तव में ऐसी कोई बात है ही नहीं।

`**जिन्हें कुछ प्रिय नहीं है, जिन्हें कुछ अप्रिय नहीं है, जिनका कोई शत्रु नहीं है, जिनका कोई मित्र नहीं है,...**' देखो ! वीतरागता क्या होती है ! शत्रु की कल्पना स्वयं नहीं करते। कोई ऐसा कहेगा कि, वह जीव हमारे प्रति द्वेष रखता है, हमें शत्रु मानकर वर्तन करता है तो वह शत्रु है कि नहीं ? (तो कहते हैं) नहीं है। ज्ञानी उसे किस दृष्टि से देखते हैं ? ज्ञानी इस दृष्टि से देखते हैं कि, यह बिचारा भटक गया है। क्या है ? अपने स्वरूप को वह जानता नहीं और दूसरे को अपना मानता है। उसे जिसका राग है उसमें कोई बाधा पहुँची है। उसे जिसका राग है उसमें उसे कोई बाधा पहुँची है और वह कोई कोई निमित्त के कारण समझता है वह भी उसकी भूल है। निमित्त निमित्त होता है, कारण नहीं होता। जो भी बाधा पहुँचाने वाला निमित्त होगा उसके प्रति उसे द्वेष होगा। परंतु वह उसकी भूल है।

जैसे कि अपने परिवार में बच्चे होते हैं, नासमझ होते हैं। बच्चे होते हैं इसलिए नासमझ होते हैं। तीन-चार वर्ष के बच्चे घर में तोड़-फ़ोड़ भी करते हैं, नुकसान करते हैं और उनका बोलने

का, कि वर्तन करने का कोई ठिकाना तो होता नहीं। उन्हें कहें कि, `आवाज नहीं करो, चीखों मत' तो वे आवाज़ करेंगे। ऐसे जो नासमझ होते हैं उनके लिए हमलोग क्या सोचते हैं ? कि, बच्चा है, नासमझ है। थोड़ी देर करेगा। बचपना है तब तक करेगा, थोड़ी-बहुत समझ आने के बाद फिर नहीं करेगा। इस तरह संसार में जो लोग दुश्मनी रखी हैं, दुश्मनी करते हैं वे भी बच्चों जैसी नासमझ हैं। उनके प्रति हमें कषाय नहीं होना चाहिए। ठीक है, समझ लो कि बच्चा है, नासमझ है, भटक गया है, अपने स्वरूप से भटक गया है तो ऐसा ही करेगा। उसकी दोषित पर्याय को गौण कर देना। वह भी तो एक आत्मा है। उसके आत्मा को मुख्य करो, बात खतम ! अतः ज्ञानी को, मुनि को कोई दुश्मन नहीं हैं और कोई मित्र भी नहीं हैं।

मित्र होते हैं वे क्या करते हैं ? कि, राग करते हैं। जैसे दुश्मन प्रतिकूल रहने का प्रयास करते हैं वैसे ये अनुकूल रहने का प्रयास करते हैं। परंतु अपने लिए कोई अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं है। कोई चीज़ अपनी नहीं। थोड़े समय के लिए संयोग होता है, थोड़े समय तक सब चीज़ों का संयोग रहता है परंतु कोई चीज़ हमेशा तो साथ में रहती नहीं है। जैसे किसी की लाई हुई पराई वस्तु; ये विवाह के प्रसंग पर ले आते हैं ना ? किसीका गहना ले आते हैं, किसीकी कोई चीज़ वस्तु ले आते हैं तो दो दिन, चार दिन, आठ दिन अपने पास रहे तो कोई अपनापना थोड़ी कर लेता है ? (ऐसा ही कहते हैं) `चलो, उनकी चीज़ जैसी है वैसी वापस भिजवा दो, कहीं खराब नहीं हो जाए।' ऐसे सब चीज़ पराई है। थोड़े समय के लिए अपने संयोग में आई है फिर उसका वियोग निश्चित है। हम जितनी पकड़ रखेंगे उतना मोह, राग, द्वेष

से हैरान होंगे, दुःखी होंगे।

जो अब दुःखी न होना हो तो पराई चीज़ को पराई समझो। जो अनुकूल चलता है वह भई पराया है और जो अनुकूल चलता है वह भई पराया है और जो प्रतिकूल चलता है वह भी पराया है। अनुकूल चलने वाले के प्रति भी राग नहीं करो। यदि आप अनुकूल चलने वाले के प्रति राग करोगे तो प्रतिकूल चलने वाले के प्रति द्वेष किए बिना रह नहीं सकोगे। अनिवार्यरूप से द्वेष हो जाएगा।

आपको बाल का रंग काला पसंद है तो सफेद रंग पसंद नहीं आएगा। चमड़ी का सफेद रंग पसंद है तो काला रंग पसंद नहीं आएगा। क्योंकि एक में राग होने से प्रतिपक्ष में द्वेष हुए बिना रहेगा नहीं। कोई अच्छा-बुरा है ही नहीं और यदि होता तो इस एक ही शरीर के दो अंग में हम ऐसी गड़बड़ नहीं करते कि, यहाँ तो काला रंग अच्छा है, यहाँ सफेद रंग अच्छ है। दोनों जगह एक ही रंग को पसंद करते। परंतु अपना कोई ठिकाना नहीं।

श्रोता :- सहज स्वरूप में स्थिति होने के लिए अलौकिक पुरुषार्थ कैसा चाहिए ?

समाधान :- अलौकिक पुरुषार्थ यानी अंतर्मुखी पुरुषार्थ। पुरुषार्थ दो प्रकार के हैं - एक लौकिक, एक अलौकिक लौकिक यानी क्या ? कि, इस संसार के जो संग-प्रसंग है उसमें अपनी शक्ति का खर्च करते हैं। यह अपना लौकिक पुरुषार्थ है। उसे बंद करके, वह दुरुपयोग है, अपनी शक्ति का दुरुपयोग है। अब उसका सदुपयोग करना है कि, अपने में जो शक्ति है उसे हम हमारे स्वरूप में लगाएँ तो सुख-शांति की प्राप्ति हो सकती है। लौकिक (पुरुषार्थ

की) बराबरी में यह तुलनात्मक वचन है। लौकिक के हिसाब से यह अलौकिक पुरुषार्थ है। उसकी जाति अलग है, उसका प्रकार अलग है और अलौकिक से विरुद्ध है इसलिए अलौकिक है।

(यहाँ क्या कहते हैं ?) `**जिनका कोई शत्रु नहीं, जिनका कोई मित्र नहीं। जिन्हें मान-अपमान,...**' के द्वंद्व का अभाव (हुआ है)। द्वंद्व यानी जोड़ी (अर्थात्) दोनों साथ में रहते हैं - मान और अपमान। जिन्हें मान की भी गिनती नहीं, जिन्हें अपमान की भी गिनती नहीं। मनुष्य पर्याय में यह सबसे कठिन बात है। मान अति प्रिय होता है और अपमान तो सहन ही न कर सके।

श्रोता :- मान और अपमान से रहित होने के लिए कैसा पुरुषार्थ करना चाहिए ?

समाधान :- यही बात करेंगे। मान और अपमान दोनों अपनी कल्पना हैं ऐसी सच्ची समझ करनी चाहिए। क्या करना चाहिए ? कि, दोनों अपनी कल्पना है। दृष्टांतरूप से लें तो आप लोगोंने मुझे ऊपर बिठायाँ और आप नीचे बैठ गए। मुझे एक फुट ऊपर बैठा दिया। लोग कहेंगे कि, सन्मान किया - मान किया। मेरे आत्मा को क्या लाभ हुआ बताईये ? और आपको क्या नुकसान हुआ ये बताईये ? है कोई लाभ नुकसान इसमें ? अच्छे पने की एक कल्पना कर लेते हैं, दूसरा कुछ नहीं है। चलो मुझे ऊपर बैठा दिया ! इस कल्पना से दिमाग ऊपर चढ़ जाता है। एक फुट ऊपर बैठने में दिमाग कितने फुट ऊपर चढ़ेगा इसका ठिकाना नहीं रहता। `मुझे मान मिला' इसमें दिमाग चढ़ जाएगा और अपमान होगा तो निराशा में आ जाएगा। क्योंकि उसका प्रत्याघात आनेवाला ही है। दोनों कल्पना हैं। फिर भी आप कहेंगे कि, कोई निंदा करे कि, `आप तो ऐसे हैं... ऐसे हैं... वैसे हैं...' बहुत प्रकार से

निंदा करे तो उसका तो (अपमान) लगता है कि नहीं लगता ? (कहते हैं कि) नहीं लगना चाहिए। आप कहेंगे कि, `किस तरह नहीं लगे ? मेरा नाम लेकर बोलते हैं। व्यक्तिगत मेरी बात करते हैं, किस तरह नहीं लगे ?'

देखो ! अपने ही कोई कर्म का उदय है। क्या है ? जिसको ऐसा भाव हुआ यह स्वयं का ही कोई कर्म का उदय है। इस उदय में सामनेवाला तो बिचारा निमित्त ह। अब, अपने मैले कपड़े साफ करने के लिए कोई अपना खुद का साबुन, पानी, सोड़ा लेकर आए (तो भले आए) खर्च तो वह करता है। वह तो हमें निष्कर्म - शुद्ध होने का एक मौका देता है तो अपने लिए वह उपकारी हैं। क्या हैं ? जो कोई अपना काम कर देता है वह अपने लिए तो उपकारी है। निमित्त को उपकारी जान लो ! आपको अपमान का भी कुछ (बुरा) नहीं लगेगा। दूसरों को आश्चर्य लगेगा कि, इतना अपमान हो रहा है फिर भी उनको तो कुछ होता ही नहीं !! इसलिए यह बात तो समझ पर आधारित है।

किसी भी घटना को हमें Right angle (सच्चे दृष्टिकोण से) देखनी है। यदि हमारा देखने का दृष्टिकोण ठीक है - योग्य है - यथार्थ है तो कोई आपत्ति नहीं है। देखने की दृष्टि यदि गलत है तो सब आपत्ति है। कल्पना से तो अंधेरे में भूत दिखेगा और ड़ोरी में साँप दिखेगा और व्यर्थ में दुःख होगा, दूसरा कुछ नहीं होगा। हमें भूत को नहीं देखना है। अंधेरा अंधेरा है, प्रकाश प्रकाश है। अपने ज्ञान प्रकाश मेंकिसी का प्रवेश नहीं है। कोई भी पर संयोग का ज्ञान में प्रवेश नहीं है। इसलिए मान-अपमान, लाभ-अलाभ दोनों बातें ली हैं। (उसमें) न हमें कोई लाभ हैं, न हमें कोई नुकसान है।

आप बताइए कि, आपको किस चीज़ में से सुख मिलता है ? वह मुझे बता दो। जगतमें से एक चीज़ ऐसी दिखा दो कि जिसमें से आपको सुख मिलता है ऐसी एक चीज़ बता दो ! जो चीज़ बताओगे इसमें मैं दिखा दूँगा कि, आपकी बात गलत है। आपको वहाँ से सुख नहीं मिलता, आपको वहाँ से दुःख चालू हो जाता है। सुख तो नहीं मिलता परंतु दुःख चालू हो जाता है। एक चीज़ बता दो ! न तो वह चीज़ सुख का कारण है, न तो वह चीज़ दुःख का भी कारण है। दोनों अपनी कल्पना है। जैसे मान-अपमान कल्पना है ऐसे लाभ-नुकसान भी कल्पना ही कल्पना है। यह वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान है। हमें महापुरुषों के इस वचनामृत से वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान मिलता है, सच्ची समझ मिलती है तो हमारी कल्पना ही छूट जाती है। जो Misconcept (मिथ्या अभिप्राय) है उसीकी यह सब माथा पच्ची है।

संसार में जितनी तकरार हैं, क्लेश हैं, लड़ाई हैं, विग्रह हैं, युद्ध हैं ये सब माथापच्ची एक ही कारण से है - Misconcept - परपदार्थ में सुखबुद्धि, परपदार्थ में दुःखबुद्धि। ऐसी जो कल्पना है उसके कारण संक्लेश हुए बिना रहेगा नहीं, दुःख हुए बिना रहेगा नहीं।

श्रोता :- आपको हमने ऊपर बैठा दिया तो आपके मन में क्या भाव हुए ? अच्छा लगा ? कैसा लगा ?

समाधान :- नहीं, मुझे कुछ नहीं लगा।

श्रोता :- आफको हम नीचे बैठाए तो आपके मन में क्या भाव आते ?

समाधान :- कुछ नहीं, तो भी कुछ नहीं। मैं तो बहुत-सी जगह नीचे बैठ जाता हूँ, पीछे भी बैठ जाता हूँ। आगे बैठने को

कहे तो ना भी कर देता हूँ कि, नहीं, यहाँ ठीक है। कहीं तो सुनने जाए तो नीचे बैठ जाता हूँ। सुनाने वाला ऊपर बैठता है, सुननेवाला नीचे बैठता है। कभी तो नीचे भी बैठ जाता हूँ। कल्पना करनी ही नहीं है। मैं क्या विचार करता हूँ कि, कल्पना करनी ही नहीं।

श्रोता :- ज्ञानी को तो हमारी भक्ति की जरूरत नहीं है, परंतु हमें आपने काम के लिए ज्ञानी की भक्ति की जरूरत है, तो क्या करना ?

समाधान :- आप आपका जानो। मैं इसमें क्यों माथा मारूँ ? मैं क्यों माथा मारूँ ? आपआपका जानो। ऐसा होता है कि, ज्ञानी तो सब जानते हैं कि, आज भक्ति करने वाला कब क्या करेगा उसका भरोसा तो है नहीं। यदि आज मुझे भक्ति का मोह हो गया तो कल उसकी अभक्ति से क्या होगा ? तकलीफ हो जाएगी ना ? इसलिए भक्ति करने वाला उसकी जाने, हमें कुछ लेना-देना नहीं है। किसी की भक्ति से ज्ञानी को कोई लाभ तो होता नहीं है।

मैं `पूज्य सोगानीजी' की बात करूँ। जब मेरा परिचय हुआ (तब) मुझे बहुत प्रमोद हुआ। उनकी अंतरदशा देखकर मुझे बहुत प्रमोद हुआ था। हुआ क्या कि, गुरुदेव जानते नहीं थे कि, इनके अंदर में इतनी सुंदर ज्ञानदशा है ! ज्ञानदशा तो हज़ारों - लाखों जीवों में किसीको ही प्राप्त होती है। वे तो किसी के परिचय में नहीं आते थे, गुप्त रहते थे और `गुरुदेवश्री' के साथ भी बातचीत नहीं करते थे, मौन रहते थे तो किस तरह पता चले ? वहाँ तो बहुत लोग-सैकड़ों लोग आते हों, जाते हों, सुनें और चले जाए। मैंने एक दिन कहा कि, `देखो भाई ! आपके ऊपर गुरुदेव का

उपकार तो है।' तो कहा कि, `हाँ, बहुत-बहुत उपकार है।' ये तो उनके पत्रों में बहुत बातें मिलती है कि, बहुत उपकारी है। (फिर मैंने कहा) `परंतु आपके विषय में (वे) कुछ जानते नहीं तो उपकारबुद्धि से भी दो शब्द, तो कहो कि, मेरे आत्मा के ऊपर आपने बहुत उपकार किया है ! मैं आपके असीम उपकार को भूल नहीं सकता ! ऐसी कोई दो बात तो करो !' तो उन्होंने कहा कि, `इसमें हमारा क्या प्रयोजन है ?' वे तो सभी बात प्रयोजन से ही लेते थे कि, मेरा प्रयोजन क्या है ? मैंने कहा, `गुरुदेव को पता नहीं, जानेंगे तो सही कि, ऐसे भी कोई विरल जीव यहाँ होते हैं !' तो क्या कहा कि, `मानो पता चला, इसमें मेरे आत्मा को क्या फायदा होगा ये बताओ ?' मैंने कहा, `वे प्रसन्न तो होंगे !' तो कहा कि, `वे प्रसन्न होंगे तो होंगे, परंतु मेरे आत्मा को क्या फायदा होगा ? उन्होंने कहा कि, दरअसल बात ऐसी है कि, कोई बात बनाकर जाना...' Pre-planned जिसे कहते हैं, `...Preplanning करके जाना और कहना ये मेरे से नहीं होगा, यह मेरे से नहीं हो सकेगा। इसलिए इस बात को छोड़ दो !' और मुझे कह दिया कि, `आप मेरे लिए क्यों बोझा उठाते हैं ? मेरे लिए आप क्यों बोठा उठाते हो ?' मैंने कहा कि, `अपना संग है तो सहज ही विचार आ गया कि, गुरुदेव आपके विषय में कुछ परिचित हो जाए तो अच्छा है।' (उन्होंने कहा) `छोड़ो इस बात को। हमें कहीं आना-जाना नहीं है। अपने काम में लगे रहो, बस !' बात पूरी। बिलकुल प्रसिद्धि में आने की बात ही नहीं और प्रसिद्धि से विरुद्ध वे तो भागने की चेष्टा कते थे ! और ऐसा कहते थे कि, `देखो ! सम्यग्दर्शन हो गया तो क्या हो गया ? ज्ञानी हो गया तो क्या हो गया ? अभी तो बहुत काम बाकी है।'

वर्तमान में ढ़ाई द्वीप के बाहर स्वयंभूरमण समुद्र जो है, जंबुद्वीप का जो आखरी समुद्र असंख्य योजन का है, उसके नीचे रेत नहीं होती सब रत्न ही होते हैं। रेती की जगह सब रत्न ही होते हैं। उसमें असंख्य जलचर प्राणी होते है। असंख्य क्या अनंत होंगे। बहुत बड़ा समुद्र है, असंख्य योजन का है। उसमें असंख्य सम्यक्दृष्टि हैं ! कितने हैं ? तिर्यंच - पशुगति के असंख्य सम्यक्दृष्टि हैं ! 'सम्यग्दर्शन' हो गया तो क्या हो गया ?' ऐसा कहते थे। (कितने ही) तो पंचम गुणस्थानवर्ती भई होते हैं। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। हमें मान-अपमान की बात कुछ लेनी ही नहीं है। इनकी जो रहने की परिस्थिति थी वह बहुत Ideal - बहुत आदर्शवाली थी, एकदम Ideal थी।

संसारी जीवों को आठों कर्मों का उदय हमेशा - हमेशा होता ही है। जैसे कि आठ कर्म में आयुकर्म है, उसका उदय कब चालू नहीं है ? आयुष्य का उदय सबको चालू है कि नहीं ? है। तो इस तरह बाकी के सात कर्मों का उदय भी सबको चालू है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय, मोहनी, शाता-अशाता वेदनी, आयु, नाम, गोत्र।

श्रोता :- नाम, गोत्र ये किस तरह होते हैं ?

समाधान :- गोत्र यानी जिस कुल में हम जन्म लेते हैं उसे 'गोत्र' कहा जाता है। शादि के समय महाराज बोलेते हैं - आप इस गोत्र के हैं, आप इस गोत्र के हैं... आप लोग इस गोत्र के हो... ये ब्राह्मण लोग जानते हैं। पिताजी के वक्त से जो गोत्र चला आता है वह गोत्र बताते हैं, इस गोत्र की कन्या है, इस गोत्र का (वर है)। क्योंकि पहले के जमाने में एक गोत्र में सगाई नहीं करते थे। इस गोत्र की कन्या है, इस गोत्र का वर पक्ष

है, ऐसे बोलते हैं। हिन्दुओं में ब्राह्मण लोग बोलते हैं। इस कुल परंपरा से ऊँच-नीच ऐसे दो प्रकार के गोत्र होते हैं। नामकर्म के हिसाब से नामकर्म की बहुत प्रकृति होती है। इसमें शरीर रचना-दुबला-पतला, सुरूप-कुरूप, कीर्त-अपकीर्ति ये सब नामकर्म की प्रकृति में जाता है। ये सबको चालू है। वेदनी में शाता-अशाता (होती है ये) सब जानते हैं। (इस तरह) आठों कर्म का उदय सबको निरंतर चालू है।

जब तक अपने परिणाम आत्मा में नहीं लगते (तब तक) परिणाम उदय में नियम से लगते हैं। परिणाम लगने के द ही स्थान हैं - एक अपना आत्म स्वरूप और दूसरा उदय। या तो परिणाम उदय में लगेंगे या तो अपने आत्मा में लगेंगे। तीसरी कोई वस्तु नहीं है, तीसरी कोई जगह नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि, जिन्हें उदय आश्रित हर्ष-शोक के परिणाम नहीं होते, जिन्हें `**जन्म-मृत्यु आदि द्वंद्वों का अभाव...**' है। मेरा जन्म नहीं, मेरा मरण भी नहीं। मैं अनादि-अनंत शाश्वत पदार्थ हूँ। कभी नयी उत्पत्ति नहीं हुई और न कभी मरनेवाला हूँ, मेरा नाश हो ही नहीं सकता। जब अव्याबाध (स्वरूपवाला) हूँ तो नाश होनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं।

(ये) `**आदि द्वंद्व का अभाव होकर जो शुद्ध चैतन्यस्वूरप में स्थित हुए हैं,...**' शुद्ध चैतन्यस्वरूप में जिसने स्थिति पाई है (यानि) भूतकाल में। वर्तमान में स्थिति पाते हैं और भविष्य में स्थिति पाएँगे। `उनका अति उत्कृष्ट पराक्रम...' (अर्थात्) पुरुषार्थ का पराक्रम ! कोई कल्पना में नहीं आता, जिन्हें कल्पना नहीं होती, जो समझ है उसमें अड़ग और अचल रहते हैं, स्थिर रहते हैं, ऐसा जिसका पुरुषार्थ है वह हमें `**सानंदाश्चर्य उत्पन्न कराता है।**' हमें ऐसे वीतरागी,

पुरुषार्थवान, आत्मा को देख कर आनंद भी होता है और आश्चर्य भी होता है, क्या इनका पुरुषार्थ है !!

हर्श-शोक के निमित्त में जो हर्ष-शोकान्वित होते नहीं, ये उनका पुरुषार्थ है इसलिए नहीं होते। उनके पुरुषार्थ के पराक्रम को देखकर आश्चर्य भी व्यक्त किया है और आनंद - प्रमोद भी व्यक्त किया है। इस तरह यहाँ वीतरागता की प्रशंसा की है, वीतरागता की भक्ति की है और स्वयं के प्रमोद को जाहिर किया है कि, ऐसे आत्मा को देखकर हमें भी प्रमोद आता है, हमें बहुत प्रमोद आता है।

'**देह से जैसा वस्त्र का संबंध है, वैसा आत्मा से देह का संबंध जिन्होंने यथातथ्य देखा है,...**' अपन रोज (एकबार) कपड़े बदलते हैं और दिन में तीन-चार बार कपड़े बदलने वाले भी होते हैं, हमें उनकी चर्चा नहीं करनी है, (क्योंकि) इसमें हेतु अलग है। परंतु रोज़-नित्य नियम से - सामान्यरूप से सब लोग नहाते हैं, कपड़े बदलते हैं। हम उसवक्त कितने Normal होते हैं ! मैले कपड़े उतारे देना, स्वच्छ कपड़ो को पहन लेना एकदम Normal है। अपना Roution है - Nornal routime हो गया है। इसमें दुःख नहीं होता। जो कपड़े दिये उनके लिए दुःख नहीं होता और साफ कपड़े पहनने में सुख हो जाय ऐसी कोई खास बात नहीं होती। बहुत Normal position में हम ऐसा करते हैं क्यों ? क्योंकि, इससे हमें कोई फ़र्क नहीं पड़ता। ये कपड़े धोने में देना और दूसरे कपड़े पहनना उसमें हमें क्या फ़र्क पड़ता है ? कोई फ़र्क हम नहीं समझते। ऐसा संबंध वास्तव में देह और आत्मा का है।

अपना आत्मा देह बदलता रहा है। परिभ्रमण में पुराने देह को छोड़ देता है, नये देह को ग्रहण कर लेता है। परिभ्रमण

में ये एक Natural प्रक्रिया (कुदरती प्रक्रिया) है, - Natural process है, होते ही रहता है। ऐसा संबंध ज्ञानी ने देखा है कि, इसमें हर्ष-शोक करने का कोई अवकाश नहीं है, कोई बात ही नहीं है।

'**देह से जैसा वस्त्र का संबंध है, वैसा आत्मा से देह का संबंध जिन्होंने यथातथ्य देखा है,...**' कपड़ा फट भी जाता है, पुराना हो जाता है (तो) फट जाता है तो हम क्या विचार करते हैं कि, इसमें इसका कोई दोष नहीं। इतने वर्षों से तो पहन रहे हैं। आज फट गया तो क्या हो गया ? ठीक है, बदल देंगे। इसी तरह यह देह भी पुराना - जर्जरित होता है, (उसे रखने की) इच्छा करें - इच्छा न करें इसमें इच्छा की कोई अपेक्षा नहीं है। यह तो स्वतः पुराना होती ही है और फिर बदलने का समय भी आता है। ये कुदरती है, ऐसा होना ही है इसमें क्या हुआ ? इसमें दुःख होने का क्या कारण है ? थोड़े समय के बाद ये देह पुराना होगा, जर्जरित होगा इसमें दुःखी होने की क्या बात है ? और छूटेगा तो भी दुःखी होने की क्या बात है ?

देह के छूटने से हम मरते तो नहीं। यदि मर गए हो तो पिछले भव में देह छूट गया और अभी मौजूद हैं, तो उसका क्या ? पिछले भव में देह छोड़कर आए कि नहीं ? याद नहीं है परंतु समझ तो सकते हैं। बात समझ में तो आ सकती है कि हमने किसी देह को छोड़कर इस नये देह को धारण किया है। यदि वहाँ मर गए होते तो यहाँ मौजूद नहीं होते। इसका अर्थ ऐसा है कि, वहाँ मरे तो नहीं थे। Change of place - क्षेत्र की भिन्नता हुई, शरीर की भिन्नता हुई, बात तो (इतनी है)। ये सब चीज़ें बदल गई हैं, संयोग बदल गए हैं, दूसरा कुछ नहीं हुआ।

श्रोता :- जब तक अनुभव नहीं हुआ तब तक क्या करना ?

समाधान :- अनुभव का प्रयत्न करना चाहिए। अपनी जो समझ है उसका अमलीकरण हो तब तो अनुभव होगा और अनुभव का प्रयत्न करेंगे तब तो अनुभव होगा। इसलिए ये जो समझ है यह अनुभव कराने के लिए है, समझ (सिर्फ) समझने के लिए नहीं है, समझ अनुभव कराने के लिए है। Put it into practice.

श्रोता :- भाईश्री बंगाली में कहते हैं कि, मैदान में उतरना पड़ेगा।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, सो तो है। Practice तो करनी ही पड़ेगी, तो ही अनुभव होगा। बिना Practice से अनुभवज्ञान किसी को मिलता ही नहीं। Practice बिना किसी को अनुभव ज्ञान नहीं (मिलता)। डॉकटर बने तो दो वर्ष इन्टर्नशिप के होते हैं कि नहीं होते ? बड़े डॉकटरों के सात होस्पिटल में चक्कर लगाने पड़ते हैं। जब बनते हैं उसे कुछ वर्षो तक वकालत की Practice करनी पड़ती है, तब जज बन सकते हैं। Practical knowledge count होता है, Theoratical knowlodge संसार में भी Count नहीं होती।

हम हमारी ऑफिस में किसी को नौकरी पर रखेंगे तो वह तो Certificate लेकर आएगा कि, देखो में तो इतना पढ़ा हूँ। हम उसे एक तरफ रख देंगे। Certificate को देखा-न देखा कर देंगे। (हम ऐसा पूछते हैं कि) अनुभव कितने वर्ष का है ? (वह कहेगा) इतने वर्ष का। किस कंपनी में थे ? उसका कोई Certificate है कि, इसने हमारे यहाँ इतने वर्ष काम किया हैं ? Practical knowledge minimum five years experience expected है। विज्ञापन में भी इतना देते हैं कि नहीं देते ? कम से कम पाँच वर्ष का अनुभवी पुरुष तो चाहिए। क्योंकि हमने यहाँ स्कूल-कौलेज खोली नहीं है कि, हमारे पैसे से कोई सीख ले ! और हम इसका नुकसान भी भोग

लें। हमें तो अनुभव चाहिए। सब जगह अनुभव की कीमत है। यहाँ भी अनुभवज्ञान की ही कीमत है।

आपको अनुभव करने के लिए हमेशा-हमेशा Practice करने का मैदान मिलता है। आपका जो उदय है यही आपका मैदान है। जो भी आपका रोज़ाना उदय है - खाने-पीने का, अनेक प्रकार के संग-प्रसंग आते हैं, कर्म के सब प्रसंग होते हैं, यही आपका Practice करने का मैदान है। Practice करने के लिए हमेशा तैयार रहो ! बस, दूसरा आपको क्या चाहिए ?

श्रोता :- बहुत जगह आता है कि, कुटुंब वगैरे से दूर जाकर निवृत्ति क्षेत्र में जाओ तो ये सब ज्यादा होता हैं।

समाधान :- इसमें ऐसा है कि, पहले तो घर में Practice चालू कर दो ! हमें ऐसे जाना नहीं है, नहीं तो वहाँ (घर) याद आएगा कि, हमारे यहाँ तो गद्दा ऐसा है, हमारे यहाँ तो ऐसी थाली है, हमारे यहाँ उठने-बैठने के लिए सौफ़ा है, मेरा रूम तो ऐसा है, ये सब याद आएगे। पहले यहाँ प्रतिबंध तोड़ो ! बीच में रहकर ! हमारे जैनदर्शन की कार्य पद्धति की नीति है, नियम बाद में है। नीति बिना नियम बनाने नहीं चाहिए। नीतिपूर्वक नियम बनाने चाहिए। नीति यानी Policy, तो अपनी नीति पहले बनाओ। यह नीति ऐसी है कि, घर में आपने जन्म लिया है, घर में बड़े हुए हैं तो घर में ही प्रतिबंध तोड़ो। जो Attachment है उसे (उसीके) बीच में रहकर कमज़ोर बना दो या छोड़ दो। मिठाई सामने हो फिर भी हमें लालच न हो इसमें ही हमारा पुरुषार्थ है। मिठाई खाने नहीं मिलती हो और ऐसा कहें कि, मिठाई का त्याग कर दिया ! इस त्याग में कोई दम नहीं, इस त्याग में कोई दम नहीं है।

श्रोता :- लालच होने पर भी न खाए ये भी एक पुरुषार्थ हुआ ना ? मन है तो लालच तो जाएगा।

समाधान :- हम मन को तैयार करें। मन की भी घड़ाई हो सकती है। मन को घड़ा जा सकता है, इसकी भी कार्य पद्धति है। हम मन को घड़ें, मन को घड़ा जा सकता है। उलटा घड़ी तो व्यसन हो जाता है, बीड़ी पीनेवाले को बीड़ी के बिना नहीं चलता, चाय पीने वाले को चाय के बिना नहीं चलता। और दारू पीने वाले को दारू के बिना नहीं चलता। उसने मन को उलटा घड़ लिया। सीधा घड़ने वाले को - बीड़ी पीते नहीं उसे तो पता तक नहीं चलता कि पीना कि नहीं पीना। इनको कोई विकल्प ही नहीं उठता। इनका मन (वैसे) घड़ गया। ऐसे मन को आप जिस दिशा में चाहो घड़ सकते हो और इसकी भी एक पद्धति है - इसका भी विज्ञान है - इसकी भी Engineering है। अपने सत् शास्त्रों में इसकी व्यवस्थित बात है। इस तरह आप घड़ो। सहज मात्र में आप शुद्ध वीतराग हो सकते हो।

अपनी पहले से ही सहज परिस्थिति से ही शुरूआत है। कोई कृत्रिमता नहीं, कोई बलजोरी नहीं, कोई जबरदस्ती नहीं, कोई दमन नहीं, कोई आक्रमण नहीं। इस प्रकार से (कृत्रिमता से) यह रस्ता लेना नहीं है। सहज मात्र किस तरह परिणाम को घड़ना इसकी पद्धति है, इसका विज्ञान है, इसकी Practice कर सकते हैं और सहज दशा है। आखिर में मोक्ष पर्यंत सहजात्मस्वरूप की सहजदशा प्रगट हो सकती है। क्योंकि आत्मा सहजात्मस्वरूप है तो उसकी दशा भी सहज हो तो ही इसके साथ इसकी सुसंगतता रहती है नहीं तो विसंगतता हो जाती है और विसंगतता में क्लेस सिवाय दूसरा कुछ नहीं होता। इसलिए हो सकता है, सब हो सकता

है। ऐसा हो सकता है इसकी तो यहाँ `कृपालुदेव' ने प्रशंसा की है। `कृपालुदेव' खुद ही इस पत्र में इसकी तो भक्ति कर रहे हैं।

यह देह और आत्मा की भिन्नता का जो विषय है ये भी बहुत सुंदर है। अब अगले स्वाध्याय में थोड़े विस्तार से लेंगे, समय समाप्त हुआ है।

प्रवचन - ११ दि. २७-०२-१९९७
पत्रांक-८३३ (२)

(`श्रीमद् राजचंद्र') पत्रांक-८३३ चलता है)। `**देह से जैसा वस्त्र का संबंध है, वैसा आत्मा से देह का संबंध जिन्होंने यथातथ्य देखा है, म्यान से तलवार का जैसा संबंध है, वैसा देह से आत्मा का संबंध जिन्होंने देखा है, अबद्ध-स्पष्ट आत्मा का जिन्होंने अनुभव किया है, उन महत्पुरुषों को जीवन और मरण दोनों समान हैं।**' ऊपर के पैराग्राफ में द्वंद्व लिया था। एक (द्वंद्व) लिया था - प्रिय-अप्रिय का, दूसरा लिया था - शत्रु-मित्र का, तीसरा मान-अपमान का लिया था, चौथा लाभ-अलाभ का लिया था, पाँचवा हर्ष-शोक का लिया था और छट्ठा द्वंद्व लिया था - जन्म-मृत्यु का। इन छओं द्वंद्व में सबसे बड़ा Tension मरण में आता है। प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान, लाभ-अलाभ में इतना नहीं आता जितना मृत्यु की समस्या (में आता) है। क्योंकि संसार में मृत्यु का प्रसंग एक ऐसा प्रसंग भ्रांतिगतरूप से अनुभव में आता है कि, मेरा सर्वनाश हो गया। दूसरे पाँचों में सर्वनाश नहीं, थोड़ा-बहुत अधूरा नुकसान लगता है। इसमें तो (मृत्यु में तो) संपूर्ण नाश अनुभव में आता है। जिसको मृत्यु का भय नहीं उसे दूसरी कोई चीज़ का भय नहीं

रहेगा।

यहाँ किसकी बात चलती है ? कि, जिसको देहात्मबुद्धि चली गई है, जिसको देहात्मबुद्धि बिलकुल चली गई है। देह है वह आत्मा है ही नहीं। शरीर के साथ वस्त्र का संबंध, जैसा म्यान का तलवार के साथ भिन्न-भिन्न संबंध है, ऐसा ही संबंध है। देह छूट जाएगा तो देह के छूटने से मेरे में से एक भी गुण छूटने वाला नहीं और मेरे क्षेत्र में से एक प्रदेश भी कम नहीं होने वाला है। मेरी जो संपत्ति है वह तो गुण संपत्ति है। जब मेरी संपत्ति इतनी की इतनी, ऐसी की ऐसी रहती है तो फिर मुझे चिंता किसकी ?

`सोगानीजी' एक पत्र में लिखते हैं कि, `मेरी परिणति जब अनंत शांति के पिंड़ के साथ रहती है तो फिर चिंता किसकी ? ज्ञानी क्या अनुभव करते हैं ? कि, मेरे में जो अनंत सुख-शांति भरपूर है वह तो ऐसी की ऐसी ही है। मुझे यहाँ से सुख-शांति मिलती है और वह पूरी की पूरी Intact - ऐसी की ऐसी रहती है फिर बाहर में कुछ भी हो जाए उससे मेरे को क्या लेना-देना ? बाहर में कुछ भी हो उससे मुझे तो कुछ फ़र्क पड़ता नहीं। मेरे सुख-शांति के भंडार में - संपत्ति में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इसीलिए उनका लक्ष, उनकी परिणति वहाँ ही रहती है। बाहर में जो कुछ होता है वह अपने हाथ की बात तो है नहीं। उसमें तो कर्म के उदय के अनुसार जो होना होगा वही होगा। ये अपने या दूसरे के भाव के वश उसकी स्थिति तो है नहीं। एक तो परिस्थिति यह है कि, इसकी स्थिति किसी के हाथ की बात नहीं है, अपने हाथ की बात भी नहीं है। दूसरा, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। कुछ भी उलट-पलट हो तो उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। फिर चिंता किस बात की ? इसलिए विश्व में वज्रपात

हो जाय तो भी ज्ञानी अंदर से हिलते नहीं ! बाहर से कुछ और दिखें तो भी अंदर से तो हिलते ही नहीं हैं।

(`समयसार' में) `निर्जरा अधिकार' में `कुंदकुंदाचार्यदेव' ने यह बात ली है कि, वज्रपात हो जाय... यानी बड़ी से बड़ी उथल पुथल हो जाय, (ऐसे प्रसंग में) पुरुषार्थ को तीव्र करते हैं अथवा सहज ही बढ़ जाता है। ऐसी परिस्थिति में ज्ञानी का पुरुषार्थ सहज बढ़ जाता है। यह बात जिसे दिखाई देती है कि, ऐसी परिस्थिति में तो उनका पुरुषार्थ बढ़ता है तो उसे अधिक भक्ति और अधिक स्नेह आता है। यह बात हमने ४६७ पत्र में पढ़ी कि, ऐसी परिस्थिति में जब वास्तविकता दिखाई देती है तो ज्यादा भक्ति और ज्यादा प्रेम आता है। ये बात बनती है।

(यहाँ) कहते हैं कि, `**देह से जैसा वस्त्र का संबंध है, वैसा आत्मा से देह का संबंध जिन्होंने यथातथ्य देखा है,...**' `रत्नकरण्ड श्रावकाचार' है, जो `भगवान समंतभद्रस्वामी' ने लिखा है। `रत्नकण्ड श्रावकाचार' में एक अधिकार लिखा है - `मृत्यु-महोत्सव !' संसार में तो ऐसा शब्द किसी ने सुना भी नहीं हो ! क्योंकि मृत्यु एक अशुभ प्रसंग गिनने में आता है। उसके समाचार का शीर्षक भी लिखने में आता है - `अशुभ समाचार'। (यहाँ) उलटी बात है। संसार से मोक्षमार्ग की बात ही बिलकुल उलटी है। उलटी बात होने के कारण यह बात संसार में कहीं भी सुनने में नहीं आती। मृत्यु को कोई महोत्सव कहते हैं क्या ? उत्सह नहीं महोत्सव ! देखो ! बड़े उत्सव को महोत्सव कहते हैं, महोत्सव कहते हैं। महा उत्सव की संधि महोत्सव हो जाती है। `उ' का `ओ' हो जाता है। क्यों (महोत्सव कहलाता है ?) क्योंकि वह अधिक हर्ष का प्रसंग है। क्यों ? क्योंकि ज्ञानी को ज्यादा निर्जरा और ज्यादा कमाई

इस प्रसंग में होती है। पुरुषार्थ सहज बढ़ जाता है और उस वक्त वे अधिक निर्जरा करते हैं। अपने पुरुषार्थ में अधिक उत्साहित होते हैं और अधिक शांति होती है, शुद्धि (ज्यादा) बढ़ जाती है और वे मोक्षमार्ग में आगे बढ़ जाते हैं।

कोई ज्ञानी तो ऐसे होते हैं कि, (उनको) पता चल जाता है - शारीरिक परिस्थिति, वेदना आदि की जो परिस्थिति होती है, जो शरीर प्रकृति के विरुद्ध होती है तो पता चल जाता है कि, शरीर प्रकृति ऐसी नहीं है। सब विरुद्ध चल रहा है। इसलिए अपने पुरुषार्थ में वे एकदम जागृत हो जाते हैं - Alert हो जाते हैं और इतना पुरुषार्थ बढ़ाते हैं... इतना पुरुषार्थ बढ़ाते हैं कि, प्राण छूटने के समय वे निर्विकल्प उपयोग में आ जाते हैं !! निर्विकल्प उपयोग में वे प्राण छोड़ते हैं। ऐसी स्थिति हो जाती है। उस समय इतनी निर्जरा होती है कि जितनी पूरे जीवन में न हुई हो !! पूरी जिंदगी में ज्ञानी ने निर्जरा न की हो उतनी निर्जरा उनको प्राम छूटने के काल में होती है। कहो यह महोत्सव हुआ कि नहीं ? क्योंकि आनंद बढ़ता है। महोत्सव में आपको क्या होता है ? आनंद होता है। उत्सव-महोत्सव में आनंद आता है। उनको आनंद बढ़ जाता है - आत्मानंद बढ़ता है। इससे ज्यादा क्या चाहिए ? यह समाधिमरण है।

समाधिदशा में देह का छूटना हो उसे समाधिमरण कहते हैं। `मरण' शब्द रूढ़िवाचक है। वास्तव में मृत्यु जैसी कोई चीज़ जगत में है ही नहीं। क्योंकि आत्मा मरता नहीं और परमाणु भी मरते नहीं। देह के परमाणु बिखर जाते हैं और भिन्न-भिन्न तरह बँट जाते हैं। अपनी अपनी पर्याय का जो क्रम है इसके अनुसार बिखर जाते हैं। एक भी परमाणु का नाश तो होता नहीं, आत्मा का नाश

होता नहीं। मृत्यु तो नाश का नाम है, परंतु बिलकुल गलत ! यह नाम ही गलत है !! क्यों ? (क्योंकि) न आत्मा का नाश होता है, न परमाणु का नाश होता है। संयोग था उसका वियोग तो होना ही था। संयोग तो वियोग के साथ ही जन्म लेता है।

`गुरुदेव' कहते थे कि, माता बालक को जन्म देती है और वह सबसे पहले अपनी गोद में लेती है। उसके पहले इस बालक को अनित्यता ने अपनी गोद में ले लिया है। जिस बालक का जन्म हुआ वह उसके संयोग में नित्य नहीं रहने वाला वह पहले से ही - जन्म होती ही अनित्यता की गोद में आ गया है, फिर वह अपनी माता की गोद में जाएगा। इतनी अनित्यता पहले से ही स्वीकार कर लेनी चाहिए। इसका यदि स्वीकार हो गया तो कोई दुःख नीहं हो, कोई Tension नहीं होगा कोई तकलीफ नहीं होगी, अगर स्वीकार हुआ हो तो।

मैं मर जाऊँगा - यह भ्रम ही मृत्युतुल्य दुःख को उत्पन्न कर देता है कि, सचमें मर ही जाता है। बाकी कोई मरता नहीं। परंतु जीव मृत्यु तुल्य दुःख भोग लेता है। इस मार्ग की सबसे बड़ी जो देन है - उपलब्धि है तो यह है कि, कोई भी प्रकार का भय नहीं रहता। निःशंकता से निर्भयता आती है। (ज्ञानी) अपने स्वरूप में निःशंका है कि, मैं मरने वाला नहीं हूँ। मेरी गुणसंपत्तिमें से कुछ कम नहीं होने वाला। मुझे कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता, कोई पीड़ा नहीं कर सकता, कोई दुःख नहीं पहुँचा सकता, कोई तकलीफ नहीं दे सकता। सब प्रकार के भय खतम ! यह सबसे बड़ी बात है।

संसार में चाहे जितनी संपत्ति मिले, चाहे जितनी सत्ता मिले, `इंदिराजी' ने Emergency - अड़ीघड़ी का प्लान किया तो उनको

खुद को जोखम हो गया। क्या हुआ ? Emergency खुद को लागू पड़ गई ! (ऐसा) सुना था कि, दो हज़ार आदमी उनके मकान के आगे पीछे तीन किलोमीट के विस्तार में उनकी सुरक्षा के लिए तैनात किये गये हैं। यानी रोज़ाना लाखों रुपयों का खर्च है, तो भी बच नहीं सकी। इतनी सत्ता होने पर भी ! और दो हज़ार आदमियों की सुरक्षा होने पर भी वह बची नहीं। उन्हें भय है जबकि ज्ञानी को कोई भय नहीं है, ज्ञानी को कोई भय नहीं। यह सबसे बड़ी देन है !!

`**म्यान से तलवार का जैसा संबंध है, वैसा देह से आत्मा का संबंध जिन्होंने देखा है,...**' `जिन्होंने देखा है' यानी विचार किया है ऐसा नहीं। देखा है, प्रत्यक्ष किया है कि, देह भिन्न है (और) आत्मा भिन्न है। ऐसे तो आत्मा देह से भिन्न है तो सर्व से भिन्न है। क्योंकि सबसे ज्यादा समीप किसी का Attachment है तो वह देह का है, तो देह से भिन्न है उसका अर्थ सर्व से भिन्न है। मैं सर्व से सर्व प्रकार से भिन्न ज्ञानमयी आत्मा हूँ - ऐसा मेरा स्वरूप है। मुझे ज्ञान प्रतिक्षण अनुभव में आ रहा है और वह मेरा स्वरूप है - मेरा रूप है।

देह परमाणुओं की रचना हैं (और) वे स्वयं अपने गुणधर्म के अनुसार परिणमन करते रहते हैं। आत्मा के विकल्प के अनुसार वे परिणमन नहीं करते। अगर वैसा होता तो एक बाल को कोई सफेद नहीं होने देता। परंतु चलता नहीं है, उसमें किसी का नहीं चलता। ऐसा `(**देह से जैसा**) **आत्मा का संबंध जिन्होंने देखा है,...**'

`**अबद्ध-स्पष्ट आत्मा का जिन्होंने अनुभव किया है,...**' इस `**अबद्ध-स्पष्ट**' शब्द का प्रयोग `कुंदकुंदाचार्य देव' ने `समयसार' की १४-१५ गाथा में किया है। अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत और असंयुक्त

ऐसा आत्मा का स्वरूप है। अबद्धस्पृष्ट यानी कर्म से बंधा हुआ भी नहीं और कर्म से स्पर्शित हुआ भी नहीं। देह है वह नौकर्म है और ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि प्रकृति है वह कर्म है। न देह से बंधा है, न ज्ञानावरणी आदि कर्म से बंधा है। आत्मा को कोई बाँध नहीं सकता।

लोग ऐसा कहते हैं कि, `जैन' कर्मवादी है। क्योंकि जैनशास्त्रों में जितनी कर्म की बातें हैं उतनी बातों किसी भी धर्म संप्रदाय में और शास्त्र में नहीं है। इसलिए लोग कहते हैं कि, (जैन) कर्मवादी है। वास्तव में जैन स्वभाववादी है। कर्मवादी नहीं, स्वभाववादी है और वह स्वभाव कैसा है कि, कर्म से मैं भिन्न हूँ ऐसा है। मेरा स्वभाव - स्वरूप कर्म से भिन्न है। मेरी स्वानुभूति भी कर्म से भिन्न है। परंतु यह तो मुक्त हो तब ना ? सिद्धालय में - निर्वाणपद में बिराजमान हो जाए तब ना ? तो कहते हैं, नहीं, वर्तमान में ! वर्तमान में ही मैं मूल स्वरूप की अपेक्षा मुक्त हूँ ! अवस्था में बंधन है, संबंध है वह अवस्था में है। परंतु त्रिकाली स्वरूप में उसी अवस्था का अभाव है। मूल स्वरूप में उस अवस्था का अभाव है। मूल स्वरूप में उस बंधन वाली अवस्था का अभाव है। बंधनवाली अवस्था में अपनापना स्वीकार कर लिया है यानी जीव खुद को बंधन मुक्त अनुभव करता है। अपने त्रिकाली स्वभाव में अपनत्व कर लिया और स्वभाव का स्वीकार कर लिया तो इस अवस्था का बंधन होने पर भी अपने को मुक्तरूप से अनुभव करता है।

`कृपालुदेव' ६८० नंबर के पत्र में लिखते हैं कि, हम परमात्मस्वरूप हुए हैं ! क्या लिखते हैं ? देखो, इसमें ही है। नीचे से पाँचवी पंक्ति है। `**अधिक क्या कहें ? इस विषमकाल में परमशांति के धामरूप...**' हम कौन हैं ? `**परमशांति के धामरूप**

हम दूसरे श्रीराम अथवा श्रीमहावीर ही हैं, क्योंकि हम परमात्मस्वरूप हुए हैं।' देखो क्या लिखा है ? यह हमारा अंतर अनुभव है। `**यह अंतर अनुभव परमात्मस्वरूप की मान्यता के अभिमान से उद्‌भूत हुआ नहीं लिखा है,...**' असल में ऐसा अनुभव है, अभिमान नहीं है। यह अभिमान नहीं वास्तविकता है, ऐसा कहते हैं। अभिमान तो उसे कहेंगे कि, जैसा नहीं है वैसा माने उसे `अभिमान' कहते हैं। लखपति हो और मान ले करोड़पति ! और वैसा अभिमान करे, तो यह अभिमान है। परंतु हमारा स्वरूप - परमस्वरूप तो परमात्मस्वरूप ही है और उस रूप हमें हमारा अनुभव हो रहा है। हमारा परमात्मस्वरूप का प्रत्यक्षरूप से अनुभव करते हैं, तो हम परमात्मा हैं कि नहीं ? हैं। इसमें अभिमान की बात कहाँ है ? परमात्मस्वरूप हुए हैं - ये अनुभव से कहते हैं। अनुभवप्रधान बात है। भले ही दशा में तेरहवाँ गुणस्थान न आया हो, चौदहवाँ गुणस्थान न आया हो, सिद्ध पद प्रगट न हुआ हो तो भी। एक न्याय से यह अनुभवप्रधान न्याय है, जिसमें स्वानुभूति की प्रधानता है जिसके कारण खुद अपनेआप के परमात्मस्वरूप अनुभव करते हैं।

मूल स्वरूप परमात्मस्वरूप है और अनुभव भी उसका हुआ तो अनुचित क्या हुआ ? वह कहीये ? इसमें कौनसी बात अनुचित है ? इसमें कोई भी अनुचित बात नहीं है। इसलिए ज्ञानी को उस दृष्टि से, उस परिस्थिति से पहचानने वाले को परमेश्वरबुद्धि आएगी। यह परमेश्वरबुद्धि कोई कल्पना नहीं, एक वास्तविकता का स्वीकार है और जिसे परमेश्वरबुद्धि आती है वह मुमुक्षु तिर जाता है ! उसे निर्वाणपद की लौट्री लग गई !! वह निर्वाणपद का अधिकारी हो गया। क्योंकि योग्यता बिना वहाँ तक उसकी पहुँच नहीं है कि, उनको वह पहचान सके। अतः इस योग्यता के पर `कृपालुदेव'

ने एक Registration mark लगा दिया कि, वह निर्वाणपद का अधिकारी है, उसे पहले समकित की प्राप्ति है।

वह जीव कभी स्वच्छंद नहीं करेगा। जो परिभ्रमण का मूल कारण स्वच्छंद है वह नहीं करेगा। वह अपने अभिप्राय का आग्रह नहीं रखेगा। `**स्वच्छंद, मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरु लक्ष**' `आत्मसिद्धिशास्त्र' की सत्रवीं गाथा। श्रीगुरु जो कहेंगे उनकी आज्ञा में रहेंगा। आप जो कहें मुझे मंजूर हैं। दिन को रात कहें तो भी मंजूर है और रात को दिन कहें तो भी मंजूर है ! सूर्य को चंद्र कहें तो भी मंजूर है और चंद्र को सूर्य कहें तो भी मंजूर है ! प्रकाश को अंधेरा कहें तो भी मंजूर है ! ऐसी बात है। `**वर्ते सद्गुरुलक्ष, समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष**' ज्ञानी के ज्ञान में वहाँ प्रत्यक्षरूप से समकित दिखाई देता है कि, इस जीव को समकित हो गया ! जिसे समकित हो गया उसका निर्वाण अवश्य-अवश्य होने वाला ही है। यह तो Guaranteed बात है, बात पूरी हो गई।

`कृपालुदेव' ने मुमुक्षु की भूमिका में ऐसी कोई चीज़ बता दी है - दिखाई है कि, उसका उत्साह बढ़ जाए। क्योंकि लोग ऐसा समझते हैं कि, यह निर्विकल्प अनुभव होना, स्वरूप में लीन हो जाना, यह तो कोई योगियों का काम होगा, तब समकित होता है। सम्यग्दर्शन कब होता है ? स्वरूपलीनता के काल में। ऐसा काम तो योगी लोग ही ज्ञान-ध्यान में कर सकते हैं। हम तो रहे सामान्य मनुष्य हमारी बारी कब आएगी ? तो कहते हैं कि, तू लाईन में खड़े हो जा, लाइन में आ जा ! लाइन में आगे स्वरूप की पहचान वाला खड़ा है, उसके पीछे सत्पुरुष की पहचान वाला खड़ा है। सत्पुरुष की पहचान हो गई वह सम्यग्दर्शन की लाइन

में आ गया, बस ! उसका नंबर लगने वाला है और उसका छुटकारा नियम से - अवश्य होने वाला है। यह Guarant दी है।

कहते हैं कि, `**अबद्ध-स्पष्ट आत्मा का जिन्होंने अनुभव किया है,...**' चौथे गुणस्थान में बाहर की स्थिति गृहस्थाश्रम में है तो भी जिन्होंने अंतर अनुभव किया है कि, मेरे स्वरूप में कोई कर्म का बंधन और स्पर्श नहीं है। अनादि-अनंत जैसा है वैसा ही है, कोई फ़र्क नहीं है। जैसे सिद्ध परमात्मा हैं वैसा ही मैं हूँ। साक्षात् सिद्धपदस्वरूप स्वयं का अनुभव है वह अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव है।

श्रोता :- अबद्ध यानी ?

समाधान :- अबद्ध यानी बँधा हुआ नहीं। `आ' यानी नहीं। `नहीं' के अर्थ में `अ' शब्द का प्रयोग हमारी भाषा में बहुत है। अपक्षपात - ऐसे। `अ' यानी नहीं। यहाँ दोनों में लेना - अबद्ध और अस्पृष्ट। बँधा हुआ भी नहीं और स्पर्श भी नहीं हुआ हो। मुझे कर्म ने स्पर्श भी नहीं किया। मुझे कोई स्पर्श करे तब तो इसका असर हो न ? मेरे स्वरूप में कर्म का असर होने का कोई प्रश्न ही नहीं। कर्म क्या कोई भी प्रकार की कोई भी असर मूल स्वरूप में नहीं हो सकती। किसी की पहुँच नहीं है, वहाँ किसी की पहुँच नहीं है। ऐसा सुरक्षित आत्मस्वरूप है। उसके लिए Bodyguard की भी जरूरत नहीं है, स्वयं-खुद ही सुरक्षित है। उसकी सुरक्षा के लिए कोई Arrangement, कोई Management की जरूरत नहीं है। स्वयं सुरक्षित है फिर भय किस बात का ? भय होता ही नहीं है।

बहुत लोगों को भय लगता है कि, ऐसे ही मर जाएगे तो क्या होगा ? ऐसे ही मर जाएगे तो क्या होगा ? कहते हैं कि,

यहाँ खुदका काम चालू करो। खुद के आत्मकल्याण का जो कार्य है उसकी प्रक्रिया - Process यहाँ से चालू कर दो और ऐसा एक निश्चय रखो कि, चाहे जब आयुष्य पूरा हो जाए तो यह मनुष्यभव पूरा हो जाएगा और चाहे जहाँ जाना पड़ेगा (वहाँ) मेरा काम चालू रखूँगा। ऐसा निश्चय रखो, ऐसा निर्धार कर लो कि, चाहे जहाँ जाना तो होगा। यह मनुष्य भव कोई कायम की स्थिति नहीं है, थोड़े समय के लिए है और अनिश्चित भी है। उसका कोई नियम नहीं है कि, बचपन में मरे कि न मरे, युवानी में मरे कि नहीं मरे, वृद्धावस्था में ही मरे ऐसी कोई Guarantee नहीं है। चाहे जब चाहे जिसका आयुष्य पूरा हो जाता है। क्योंकि यह तो पूर्वकर्म की निश्चित हुई स्थिति है, पूर्वकर्म की यह स्थिति निश्चित हो चुकी है तो इसमें एक सेकन्ड़ की - एक समय की वृद्धि-हानि होने की कोई परिस्थिति नहीं होती, आयुष्य उदयमान हो गया इसलिए। उदयमान कर्म की स्थिति में कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

अब हमें एक नया निर्धार कर लेना है कि, मैं यहाँ मेरे (आत्महित का) काम करता हूँ, कर रहा हूँ और चाहे जहाँ भी जाऊँगा सर्वत्र - कोई क्षेत्र से मेरा मोह नहीं। इस देह से भी मेरा मोह नहीं, इस क्षेत्र से भी मेरा मोह नहीं, इस घर से भी नहीं, इस गाँव से भी नहीं, इस देश से भी नहीं, इस समाज से भी नहीं, इस कुटुंब से भी नहीं - किसी के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। चाहे जहाँ जाऊँ - कोई भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में मैं मेरे आत्मकल्याण का काम करता रहूँगा। फिर मुझे मनुष्यभव की भी चिंता नहीं, देह छूटने की भी चिंता नहीं, जाओ ! निश्चित हो जाओ ! क्योंकि मेरा आत्म अबद्धस्पृष्ट है। इसमें कोई कर्म का संबंध (नहीं है)। यह सब कर्म के संबंध हैं, कर्म प्रसंग हैं, आत्मप्रसंग

हैं ही नहीं। कर्मप्रसंग हैं सो आत्मप्रसंग नहीं हैं, आत्मप्रसंग हैं सो कर्मप्रसंग नहीं हैं। कर्म के साथ मेरा कुछ लेनादेना है ही नहीं।

संसार में भी जिसके साथ संबंध छोड़ देते हैं फिर उसकी तरफ देखते भी नहीं। क्या हुआ, क्या नहीं हुआ ? क्योंकि आजकल हमारा कोई संबंध नहीं रहा। क्या हुआ उसके साथ कुछ लेनादेना नहीं है। ठीक हुआ तो भी मुझे कुछ लेनादेना नहीं है, अठीक हुआ तो (भी) मुझे कुछ लेनादेना नहीं है। इस तरह पूर्व कर्म का हिसाब स्वानुभव में चुका दिया। क्या किया ? चुका दिया। मुझे कुछ लेनादेना नहीं है। जिन्होंने ऐसा अनुभव किया है, `**उन महत्पुरुषों को जीवन और मरण दोनों समान है।**' उनको तो जीवन मरण दोनों समान हैं। क्यों ? क्योंकि जीवन चालू है तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता और किसी के साथ कोई लेनादेना नहीं है। क्यों ? क्योंकि उससे कोई फ़र्क तो पड़ता नहीं है। यह Traffic आता है, जाता है इसमें क्या फ़र्क पड़ता है ? हम हमारे घर में बैठे हैं। ऐसे निज स्वभाव - घर में जो बैठ गया उसे बाहर के Traffic से कोई फ़र्क नहीं पड़ता। अरे...! सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव का भी दर्शन हो तो भी फ़र्क नहीं पड़ता ! किसी से भी फ़र्क नहीं पड़ता। सब ज्ञान का ज्ञेय है।

अब लिखते हैं। `**जिस अचिंत्य द्रव्य की शुद्धचितिस्वरूप कांति परम प्रगट होकर अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परमकृपालु सत्पुरुष ने प्रकाशित किया उसका अपार उपकार है।**' देखो ! यह उपकारबुद्धि का वचनामृत है। ज्ञानी को उपकारबुद्धि आए बिना नहीं रहती। ज्ञानी क्या मुनियों को आए बिना नहीं रहती। ऐसी एक परिस्थिति है कि यह उपकारबुद्धि आए बिना नहीं रहती। वह

उपकार कितना बताया ? कि, जिसकी कोई सीमा नहीं है। क्यों ? कि, जिसकी कोई सीमा नहीं है। क्यों ? कि, निर्वाणपद में जो सुख मिलने वाला है उसकी भी कोई सीमा नहीं है। जो आत्मलाभ हुआ उसकी कोई सीमा तो है नहीं, इतना सुख होने वाला है ! तो उपकार भी अमाप है, ऐसा कह दिया। उपकार में क्या किया ? कि, आत्मस्वरूप को प्रकाशित किया, बात दिया कि, तेरा आत्मस्वरूप ऐसा है।

वास्तव में सत्पुरुष की भक्ति का यह वचनामृत है। परंतु सत्पुरुष का श्रृंगार बहुत किया है, शोभा बहुत की है। श्रृंगार से शोभा होती है न ? शोभा बहुत की है। जिन्होंने मेरे ऊपर अपार उपकार किया हैं वे सत्पुरुष कैसे हैं ? कि, `**अचिंत्य द्रव्य की शुद्धचित् स्वरूप कांति परम प्रगट होकर अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है,...**' ऐसा अपना स्वरूप दिखाने वाले सत्पुरुष हैं ! (मात्र) `सत्पुरुष' इतना सादा शब्द नहीं लिया (परंतु) इतना लंबा विशेषण लगाया है ! उसके पीछे दो वाक्य लिख दिये हैं। इतनी बड़ी बात है ! जिनका मुझे उपकार हुआ है यह इतनी बड़ी बात है !!

द्रव्य भी अचिंत्य है, मेरा आत्मस्वरूप भी अचिंत्य है और उसकी शोभा - कांति यानी शोभा- शुद्ध चैतन्य परिणति वह उनकी शोभा है। शुद्ध चैतन्य परिणति वह आत्मद्रव्य की शोभा है। कांति यानी तेज, कांति यानी तेज ! आत्मा का तेज क्या है ? शुद्ध चैतन्य की अनुभूति वही आत्मा का तेज है। जैसे सोने में, हीरा में तेज होता है वह पुद्गलात्मक होता है। यहाँ आत्मिक तेज की बात है। बताने के लिए शब्द नहीं है।

यह जो पुद्गल का तेज है और आत्मा का तेज है - वास्तव

में उसकी उपमा नहीं दे सकते। इसलिए आत्मा के तेज को अनुपमतेज कहते हैं। क्या कहते हैं ? अनुपम तेज है ! उसकी उपमा नहीं दे सकते। किसकी उपमा दें ? सूर्य-चंद्र की दे नहीं सकते।

श्रोता :- भाईश्री ! इस `शुद्धचितिस्वरूप' में चैतन्य है ?

समाधान :- चिति यानी चैतन्य की प्रगट परिणति को चिति कहते हैं।

श्रोता :- अंतःकरण नहीं लेना है ?

समाधान :- नहीं, यह अंतःकरण की बात नहीं है। यहाँ स्वरूप की शुद्ध अवस्था की बात है, स्वरूप की शुद्ध अवस्था की बात है।

शुद्धचितिस्वरूप कांति यानी तेज। अचिंत्य यानी चिंतन में समा न सके ऐसा। चाहे जितना गहरा... गहरा... गहरा... चिंतन करे कि, मेरा आत्मा ऐसा है... मेरा आत्मा ऐसा है... इसमें आत्मा का समावेश नहीं होता। क्यों ? क्योंकि चीज़ ऐसी अचिंत्य है ! चिंतन से पार होकर स्वानुभव की निर्विकल्प स्थिति में जो प्रत्यक्षरूप से अनुभवगोचर होती है। इसलिए मनवाले चिंतन की वहाँ पहुँच नहीं है, मनवाले चिंतन की वहाँ पहुँच नहीं है।

`कृपालुदेव' खुद के लिए लिखते हैं। ये सब बातें हमने `धन्य आराधना' (पुस्तक में) ली है कि, आत्मा को जिस पदार्थ का - जिस स्वरूप का ज्ञान हुआ है वह मन नहीं जानता। क्या कहते हैं ? यह मन नहीं जानता। मेरा मन मेरे ज्ञान के अनुभव को समझता नहीं (तो) दूसरे का मन क्या समझेगा ? मेरा मन मेरे आत्मा के अनुभव को समझता नहीं। मुझे जो अनुभव हुआ है उसे मन नहीं जानता और मन जो कुछ जानता है, जितना भी जानता है उसे मेरी भाषा बोल नहीं सकती। जो वचन योग है उसमें

यह बात नहीं आ सकती और जो वचन में बोलने में आती है वह लिखने में नहीं आती और आपके साथ हमारा पत्र व्यवहार चलता है, आपको (पत्र में) क्या बताएँ ? आपको जो बताते हैं वह तो Third degree वाली बात है। मूल चीज़ तो कहाँ कि कहाँ रह जाती है। आपको संकेत मिलता है, (आप) समझदार है, तो समझदार को इशारा काफ़ी है। इतनी बात है।

श्रोता :- मन यानी वृत्ति होती है ?

समाधान :- (मन यानी) ज्ञान का मन इन्द्रिय के साथ जुड़ा हुआ क्षयोपशमभाव। पाँच इन्द्रिय और छट्ठा मन पुद्गलात्मक भी है और भावात्मक भी है। पुद्गलात्मक को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं और जो भाव है उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। छओं द्रव्येन्द्रिय हैं और छओं भावेन्द्रिय हैं। यहाँ भावेन्द्रिय की बात चलती है। मन इन्द्रिय के साथ जो ज्ञानी का क्षयोपशम जुड़ता है, लगता है और विचार होता है। क्या होता है ? विचार, मनन, चिंतन ये सब मन में चलता हैं।

श्रोता :- मन में चलता है कि आत्मा में चलता है ?

समाधान :- ये विचार, चिंतन, मनन मन मेंचलते हैं और ये आत्मा की विभाविक पर्याय हैं। ज्ञान की विभाविक पर्याय है उसे मन कहते हैं। ज्ञान होने पर भी विभाविक कैसे कहा ? क्योंकि, ज्ञान की स्वाभाविक पर्याय अंतर्मुख होती है और विभाविक पर्याय बहिर्मुख होती है।

श्रोता :- यानी आत्मा की विभाविक पर्याय अर्थात् मन ?

समाधान :- हाँ, आत्मा की ज्ञान की विभाविक पर्याय मन है। (वह) क्षयोपशमभावरूप है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का ऐसे दो क्षयोपशम वहाँ काम करते हैं। मति और श्रुत दोनों ज्ञान मन में उत्पन्न होते

हैं। यह मन जो है उस समय मन के साथ जो ज्ञान जुड़ता है उसका मुख बाहर की ओर है। कहाँ है ? बाहर है। आत्मा है वह अंतःतत्त्वस्वरूप है, जिसे अंतर्मुखी ज्ञान में ही जान सकते हैं, पहचान सकते हैं। इसलिए दोनों की दिशा परस्पर विरुद्ध है। इसलिए मन से खभी आत्मा जानने में नहीं आता। क्योंकि मन का मुख बाहर की ओर है और आत्मा वहाँ नहीं है। ज्ञान का मुख जहाँ बाहर है वहाँ सामने आत्मा तो है ही नहीं तो आत्मा किस तरह जानने में आएगा ? वहाँ आत्मा का अभाव है। वही मति-श्रुतज्ञान का क्षयोपशम अंतर्मुख हो जाय तो वह आत्मा को विषय करता है।

श्रोता :- पाँच इन्द्रिय का जो अनुभव है यह मन है ?

समाधान :- वह ज्ञान है। पहले ज्ञान अंदर से होता है फिर उसके साथ मन का संबंध जुड़ता है। पहले यहाँ से ज्ञान होता है कि, मैंने देखा।

श्रोता :- ऐसा ज्ञान आत्मा कराता है ?

समाधान :- हाँ, मूल ज्ञान कराता है वह आत्मा कराता है। परंतु इसकी दो प्रकार की अवस्था है। अग्नि तो अग्नि है, गैसमें से लो निकलती है, गरम होती है परंतु लौ के दो रंग होते हैं - Blue flame भी होती है और Yellow flame भी होती है। गैस वाला क्या कहेगा ? कि, Blue flame होगी तो यह गैस, अनाज को बराबर पकाएगा। Yellow flame होगी तो देर लगेगी और बराबर नहीं पकेगा। (इस तरह) अग्नि तो अग्नि है परंतु उसकी अवस्था के प्रकार हैं। ऐसे ज्ञान तो ज्ञान है परंतु ज्ञान के दो प्रकार - स्वभाव और विभाव। हमें स्वभाव से लाभ है विभाव से लाभ नहीं। विभाविक ज्ञान में आत्मा नहीं आता। इसलिए मेरे ज्ञान में जो

आत्मस्वरूप का अनुभव हुआ है वह मन नहीं जानता। क्यों ? क्योंकि मन का विषय हो ही नहीं सकता, यह मन का विषय हो सकता नहीं। थोड़ा-बहुत समझ में आता है, परंतु इसमें कल्पना जुड़ जाती है। क्या दूषण है ? कि, इसमें कल्पना जुड़ जाती है। इसलिए मन के द्वारा आत्मा का निश्चय यथार्थरूप से नहीं हो सकता।

श्रोता :- तो फिर यह मनन करना, चिंतन करना यह सब मन के द्वारा ही करते हैं ?

समाधान :- आत्मा का मनन, चिंतन चाहे जितना करो (परंतु) आत्मा तक नहीं पहुँच पाते। इसका Process अलग है। Process ऐसा है कि, ज्ञान के दो अंग हैं। क्या है ? दो अंग हैं। एक बाह्य अंग और एक अंतरंग। बाह्य अंग बाह्य पदार्थों के साथ संपर्क करता है। पाँच इन्द्रिय और छट्ठे मन के द्वारा आत्मा के ज्ञान का जो बाह्य अंग है वह बाह्य पदार्थ के साथ संपर्क करता है और स्थूल है इसलिए समझ में भी आता है इसे बाह्य अंग कहते हैं और आत्मा में ज्ञान का जो अंतरंग है यह इसी ज्ञान की सामान्य अवस्था है। पहली विशेष अवस्था है जो बदलती जाती है। यह सामान्य अवस्था है। Common factor - ज्ञान का Common factor गणित में सब पढ़ते हैं न - Common factor ? ३, ६, ९, १२, १५, १८, २१, २४, २७, ३० - इसमें Common factor क्या ? तो कहें, ३. बाकी सब Uncommon हैं। ३ क्या है ? Common factor है। सब में ३ है। ऐसे ज्ञान की सभी विशेष अवस्थाओं में सामान्य ज्ञान चालू है। सामान्य ज्ञान में कोई विशेषता नहीं है। यह सामान्य ज्ञान है वह स्वभाव अंग है, स्वभाव सदृश है। इसलिए जो मन है यह विशेष ज्ञान की अवस्था है। इसका लक्ष छोड़कर सामान्य ज्ञान के ऊपर, जो लक्ष विशेष ज्ञान करता है वही जब

सामान्य ज्ञान पर आए तब उसे अपना स्वभाव पहचान में आता है अथवा समझ में आता है। तब तक उसे स्वभाव पहचानने में नहीं आता अथवा समझ में नहीं आता। फिर अनुभव में तो इसका मन के साथ Attachment पूरा होकर Detachment होकर एकदम निर्विकल्प अनुभव होता है। तब आत्मा अपना अनुभव करता है अथवा आत्मज्ञान करता है। जो भवभ्रमण के नाश का कारण है, अनंत जन्म-मरण के नाश का कारण है।

हमें इस बड़ी समस्या के पीछे लग जाना चाहिए कि इस दिवाल (शरीर) को सुधारने में लग जाना ? दिवाल को सुधारना यानी क्या ? कि, इस दिवास को First class कौन-सा कलर अच्छा लगेगा यह हम करेंगे। जिस मकान में जाते हैं (वहाँ करते है)। क्योंकि मकान भी बदलते रहते हैं। (ऐसे) शरीर भी बदलते रहते हैं तो शरीर की दिवाल सुधारें, यह दिवार है, इसके ऊपर कलर मारो। अनेक कंपनीयों के अलग-अलग प्रसाधन आते हैं न ? कब तक दिवास सुधारनी ? कि जन्म-मरण मिटाना ? क्या करना है ? बड़ी समस्या कौन-सी है ? जन्म-मरण मिटाने की है।

एक बहुत बड़ी बात करने जैसी यह है कि, जिनेन्द्र परमात्मा की जो निधि है यह हमें उन्होंने दी है ! दूसरे किसी को नहीं दी परंतु हम इनके सच्चे वारिस हैं इसलिए हमें दी है। निधि यानी खजाना। जिनेन्द्र परमात्मा की निधि अपने को मिली है, उन्होंने समवसरण में से उठकर हमें दी है ! राजा के कुँवर का राज्याभिषेक करते हैं न ? तब इसका जो पिता हो वह अपने सिंहासन से उठकर खुद उसे राजतिलक करते हैं और उसे अपने सिंहासन पर बैठाते हैं। ऐसे जिनेन्द्र परमात्मा ने समवसरण के सिंहासनमें से उठकर तिलक किया है ! देखो ! ये मेरि निदि है ! अब

मुझे इसकी कीमत करनी आनी चाहिए। तुझे इसकी कीमत करनी है या इन सब राचरचीला की कीमत करनी है ? तू ही बता दे ! शरीर की कीमत ? सामग्री की कीमत करनी है ? आबरू - कीर्ति की कीमत करनी है ? समाज की कीमत करनी है ? किसकी कीमत तुझे करनी है ? सोना, रुपया, जवाहरत, गहना, हीरा की कीमत करनी है ? किसकी कीमत करनी है ? यह जो इनका उपदेश है वह जगत में मुठीभर लोगों को संयोगरूप मिलता है. इसमें से कुछ ही जीव इसकी कीमत करते हैं, इसका मूल्याँकन करते हैं। मिलनेवालोंमें से जिनको संयोग होता है उसमें से बहुभाग लोग इसका Devaluate करते हैं। इसको Evaluate नहीं करते, Devaluate करते हैं। हमें क्या करना है इतना विचार करना है।

जिनेश्वर की प्रदत्त निधि तुझे हाथ लगी है। आत्मा को कहना - अपने आत्मा को कहना कि, हे जीव ! तुझे जिनेश्वरदेव की प्रदत्त निधि हाथ लगी है ! अब तू इसका उपयोग कर ले ! देखो, जिस सिंहासन पर ये बैठे हैं उस सिंहासन पर उन्होंने तुझे बैठाया है !! फिर इससे ज्यादा तुझे क्या चाहिए ? ऐसा है, लो ! यह एक करने जैसी बात थी। जब तक इसकी कीमत नीहं आती तब तक जीव संयोग का, शरीर का लक्ष छोड़ता नहीं, कुटुंब-परिवार का लक्ष छोड़ता नहीं, समाज का लक्ष छोड़ता नहीं और मिला हुआ खजाना खो बैठता है। जिनेश्वरदेव की दी हुई निधि को खो बैठता है।

श्रोता :- जीव और आत्मा अलग-अलग शब्द इस्मेमाल होते हैं, ये दोनों एक ही हैं ?

समाधान :- हाँ, ऐसे तो एक ही पदार्थ के दो नाम हैं। `आत्मा'

शब्द अध्यात्मिक प्रकरण में इस्तेमाल किया है और लौकिक भाषा में `जीव' शब्द इस्तेमाल किया जाता है कि, `यह जीव ऐसा है और यह जीव ऐसा है। यह लोभी जीव है, यह अभिमानी जीव है।'

श्रोता :- जीव के बदले आत्मा नहीं कह सकते कि, यह लोभी आत्मा है ?

समाधान :- कह सकते हैं, परंतु सामान्य तरह बोलने की पद्धति है इसमें शास्त्र की अध्यात्म की पद्धति में अध्यात्मिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। लौकिक भाषा में लौकिक शब्द प्रयोग किया जाता हैं। परंतु जीव शब्द का प्रयोग अध्यात्म में नहीं करते ऐसा नहीं है। `समयसार' में ४७ शक्तियों का जो वर्णन किया है - आत्मा की मूल शक्तियों का जो वर्णन किया है इसमें पहली शक्ति का वर्णन `जीवत्वशक्ति' है। `जो चैतन्यप्राण से अनादि अनंत सदाय जी रहा है वह जीव है।' चैतन्य यानी ज्ञान और दर्शन। ज्ञान और दर्शन प्राण से जो अनादिअनंत जी रहा है वह जीव है। यानी तू निगोद में भी अनंत काल जिवित रहा, अभी भी जीता है और भविष्य में अनंत काल तक जीता ही रहनेवाला है, कभी मरने वाला नहीं है। भगवानने यह शाश्वत जीवनदान दिया कि, तू मरेगा ही नहीं ! बोल, इससे ज्यादा तुझे क्या चाहिए ? अभी जीवनदान दे दिया। खुद को यदि पता चले कि, मेरी जीवत्व शक्ति से मैं हमेशा-हमेशा जीने वाला हूँ उसे मरने का भय नहीं लगता, फिर दूसरा भय लगने का तो सवाल नहीं होता। इसलिए भय का दुःख - सर्वप्रकार के भय का दुःख का नाश हुआ। यह तो पहली सीढ़ी पर - `पाशेरा मां पहेली पुणी' (गुजराती कहावत) (प्रवेश करते ही) वहाँ यह फायदा हुआ। बाद का फायदा तो कहना

भी मुश्किल नहीं है। क्योंकि वाणी का सामर्थ्य नहीं है, कम पड़ती है, पहुँच नहीं है, ऐसी चीज़ है !!

`कृपालुदेव' का यह जो वचनामृत है यह बहुत प्रसिद्ध वचनामृत है। ऐसी वाक्यरचना क्वचित् ही देखने को मिले ऐसी उनकी शब्द रचना और वाक्य का संयोजन है !! भाव तो अंदर बहुत भरा है। वस्तु ही अचिंत्य है, चिंतन से पार है और अकेले मन द्वारा समझ में आए (ऐसी नहीं है)। ऐसा अचिंत्य द्रव्य तू स्वयं ही है, ऐसा मैं अचिंत्य यानी कैसा ? चिंतन में भी न आए ऐसा माने कैसा ? इसकी तुझे कोई अपूर्व जिज्ञासा जागृत होनी चाहिए।

आत्मा से खुद अनादि से अनभिज्ञ है और ऐसे सत्पुरुष के शब्दों से अगर जिज्ञासा अत्पन्न हो और आत्मा की खोज करने अंदर में निकले, ज्ञान सामान्य से पकड़े, इसकी खोज़ करने निकले तो इसकी खोज करने निकलने पर बाहर से सब जगह से खुद उदासीन हो जाय ! न मिले तब तक। कैसी दशा हो जाय ? खोजने निकले इसके पहले खुद खो जाए !! ऐसी अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न हो तब इसका पता लगे बिना रहे नहीं और इसके पहले कभी पता लगे नहीं। यह बात नक्की समझनी है, यह बात निश्चय है। ऐसी अपूर्व जिज्ञासा हुए बिना निज परमात्मा का Address - पता नहीं लगे और ऐसी जिज्ञासा आई तो फिर यह छूपा हुआ नहीं रह सकता, फिर यह छुपा नहीं रह सकता। यह बात Guaranteed है। एक शब्द से भी ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होनी चाहिए। `अचिंत्य द्रव्य' इतने शब्द से यह जिज्ञासा उत्पन्न होनी चाहिए। बहुत बड़ा लाभ है, जिज्ञासा से बहुत बड़ा लाभ है और ये जिज्ञासावाले को ज्ञानियों ने, आचार्यों ने, जिनेन्द्रों ने बहुत ही आवकार दिया है ! स्वरूप की जिज्ञासावाले जीव को बहुत बड़ा आवकार दिया है -

इसे Highly response किया है। ऐसी जिज्ञासा में तू आया ? अब तुझे तकलीफ नहीं आएगी।

यहाँ तक रखें, कल इस विषय के ऊपर विशेष लेंगे।

प्रवचन - १२ दि. २८-०२-१९९७
पत्रांक-८३३ (३)

('श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत, पत्रांक-८३३ चल रहा है।) '**जिस अचिंत्य द्रव्य की शुद्धचितिस्वरूप कांति परम प्रगट होकर अचिंत्य करती है, वह अचिंत्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निज स्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परमकृपालु सत्पुरुष ने प्रकाशित किया उसका अपार उपकार है।**' क्या कहते हैं ? कि, आत्मा एक अचिंत्य द्रव्य स्वरूप है। बहिर्मुख चिंतन में समावेश नहीं पाता। स्वयं ही अंतःतत्त्वस्वरूप होने के कारण अंतर्मुख उपयोग से जिसकी महिमा अनुभवगोचर होती है अथवा जिसका महिमावंत स्वरूप अनुभवगोचर होता है ऐसा जो आत्म द्रव्य है वह अचिंत्य है। इसकी जो शुद्ध परिणति - शुद्ध दशा प्रगट होती है यह भी अचिंत्य दशा है। इसे भी चिंतन में ले सकें ऐसा नहीं है।

यद्यपि द्रव्य स्वभाव के पास द्रव्य की अवस्था एक अंशरूप है अथवा त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की तुलना में एक समय की पूर्ण शुद्ध पर्याय भी उसका अनंतवाँ भाग रूप है। ऐसी शुद्ध पर्याय भी अचिंत्य है। ऐसी शुद्ध पर्याय से यह द्रव्य सुशोभित है। इसका यह तेज है, यह भी अचिंत्य है तो द्रव्य स्वभाव तो अचिंत्य होवे

ही। ऐसा जो अचिंत्य द्रव्य है वह `**सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है...**' यह खुद का ही स्वरूप है। ऐसा किसने कहा ? कि, कोई सत्पुरुष ने यह बात कही।

निष्कारण करुणा से जिन्होंने ऐसा निश्चय प्रकाशित किया उनके उपकार की क्या बात करे ! हालाँकि ज्ञानी की तो प्रतिकूल संयोग भी उपकारी होंते हैं। यह विषय हमारे कल के स्वाध्याय में चला था। प्रतिकूल संयोग उपकारी होते हैं, (फिर तो) प्रतिकूल संयोग देने वाले भी उपकारी हुए, प्रतिकूलता देने वाले भी उपकारी हुए। हुए कि नहीं हुए ? जिनके ज्ञान में प्रतिकूलता देने वाले उपकारी हो उनके ज्ञान में सत्पुरुषों का उपकार कितना होगा, (उसका) हिसाब लगा लेना। इनका अपार उपकार है। इनके उपकार (को) नापने के लिए, उपमा देने के लिए कोई साधन, कोई द्रव्य, कोई भाव कुछ नहीं। २१३ पत्रांक में तो `कृपालुदेव' ने सत्पुरुष की विशिष्टता, महत्ता और उपकार दर्शाने के लिए जो कलम चलाई है, यह तो उन्होंने गज़ब की कलम चलाई है ! असाधारण कलम चलाई है !! साधारण बात नहीं है।

जिनको ऐसा जो सत्पुरुष का निजस्वरूप संबंधी निश्चय स्वलक्षी ज्ञान में आता है उसको ऐसा लगता है कि, इन्होंने मुझे आत्मा दिया ! `ते तो प्रभुए आपियो, वर्तु चरणाधीन' मुझे आत्मा दे दिया, ऐसा कहते हैं। मुझे आत्मा दिखाया ऐसा नहीं कहते, दर्शाया ऐसा नहीं कहते - मुझे `दिया' (ऐसा कहते हैं)। क्योंकि जब निधि दिखाई तब तो इस निधि की प्राप्ति हुई। नहीं तो होने पर भी, नहीं होने के बराबर थी, ऐसी परिस्थिति थी। इन सब प्रकार से निज अचिंत्य द्रव्यस्वरूप को दर्शाने वाले अथवा देनेवाले ऐसे निष्कारण करुणाशील सत्पुरुषों का यहाँ उपकार माना है, उपकार गाया है।

`**चंद्र भूमि को प्रकाशित करता है, उसकी किरणों की कांति के प्रभाव से समस्त भूमि श्वेत हो जाती है,...**' पूर्णिमा की चांदनी हो तब जैसे सारी पृथ्वी के ऊपर कोई रूपैरी चादर बिछाई हो इस तरह चंद्रमा की किरण के तेज से पृथ्वी भी जैसे सपेद हो जाती है, सफेदी धारण करती है। `**परंतु चंद्र कुछ भूमिरूप किसी काल में नहीं होता,...**' फिर भी चंद्रमा-चंद्रमा की जगह है, भूमि भूमि की जगह है। चंद्रमा की चांदनी से भूमि श्वेत हुई, जैसे पृथ्वी ने रूपैरी चादर ओढ़ली - ऐसे चाहे जितनी उपमा दी जाये तो भी चंद्रमा-चंद्रमा है और भूमि भूमि है। चंद्रमा भूमि रूप नहीं होता, स्पर्शता भी नहीं। यह दृष्टांत है।

`**इसी प्रकार समस्त विश्व का प्रकाशक ऐसा यह आत्मा कभी भी विश्वरूप नहीं होता,...**' सारे विश्व का प्रकाशक यानी जाननेवाला अथवा विश्व के सभी पदार्थों की हयाती को जाहिर करने वाला उसे प्रकाशक कहा जाता है। जगत में ऐसे-ऐसे पदार्थ हैं इन पदार्थों को कहने वाला भी, प्रकाश करने वाला - जाहिर करने वाला भी कोई ज्ञानवान - ज्ञानरूप - ज्ञान मय आत्मा हैं। फिर भी वह आत्मा विश्वरूप नहीं होता. आत्मा को विश्व के साथ कोई संबंध नहीं है।

`**सदा-सर्वदा चैतन्य स्वरूप ही रहता है।**' अथवा सदा सर्वदा निजस्वरूप ही रहता है - निज चैतन्यरूप ही रहता है। यह बात किसलिए की ? कि, `**विश्व में जीव अभेदता मानता है यही भ्रांति है।**' विश्व के पदार्थों में वह अभेदता मानता है, अभेदता साधता है। जो चीज़ खरीद ली वह मेरी। देखो ! एक मानसिक स्थिति और मिथ्या अभिप्राय का अनुभव कैसा है ? पाँच मिनिट पहले यह चीज़ देखी, पसंद आई और जैसे ही इसका पैसा चुकाया

कि चीज़ हो गई मेरी ! पाँच मिनट पहले यही चीज़ यह चीज़ के रूप में थी। पाँच मिनट पहले यह चीज़ के रूप में थी। थोड़ी देर के बाद क्या हो गया कि, चीज़ हो गई मेरी। जिस-जिस चीज़ (का) इस प्रकार से जीव को संयोग होता है इसमें जीव मेरापना करके अभेदता साधता है। यह जीव को भ्रांति है। क्योंकि वस्तु वस्तु में है और पर चीज़ हमेशा के लिए पराई ही है।

एक परमाणु कोई जीव का कभी हुआ नहीं। अरे...! अभी यह शरीर भी तेरा होकर रहा नहीं। जिस शरीर का समीप में समीप संयोग है यह भी तेरा होकर - एक परमाणु (भी) तेरा होकर रहा नहीं, अथवा तेरे अधीन रहे ऐसा नहीं, तेरा कहा करे ऐसा नहीं। फिर भीसारे विश्व में जीव अभेदता साधता है। जितना घर में आए इतना - सारा विश्व जीव को घर में लाना है। बड़ी-बड़ी कंपनी के नाम पर लिखा जाता है कि यह Ltd. (कंपनी है) क्या लिखा जाता है ? बहुत बड़ी कंपनी हो तो Public limited लिखते हैं ना ? परंतु इसमें से कमाने की - पैसा कमाने की - लाभ लेने की वृत्ति और अभिप्राय कितना है ? Unlimited ! इसमें किसी की Limit है कि, इतना मिलने के बाद यह कंपनी बंद कर दो ? इतना कमाने के बाद यह कंपनी बंद करो। नहीं, सारा विश्व अपना कर लेना है, अभेदता साधनी है। यह जीव की भ्रांति है, कल्पना है और कल्पना का फल हमेशा-हमेशा दुःख है। कल्पना का फल क्या ? दुःख।

यह एक सिद्धांत है कि, `कल्पना का फल दुःख है।' अपने स्वरूप संबंधित कल्पना हुई तो भी दुःख होगा। पर पदार्थ संबंधित कल्पना हुई तो भी दुःख होगा। परपदार्थ से संबंधित कल्पना में अपनत्व होता है यह दुःखदायक है और अपने स्वरूप को अन्यथा

विचार में लेता है, समझ में लेता है यह भी कल्पना है, गृहित मिथ्यात्व है और इसका फल भी दुःख ही है।

जैनधर्म है यह वस्तु के वास्तविक स्वरूप के पाये पर की हुई चुनाई है। क्या है ? जैनधर्म है यह वास्तविक वस्तुस्वरूप है। एकदम ठीक ! जैसा है ऐसा। इसके ऊपर की गई चुनाई है सो जैन धर्म है। इसका पाया है यह वास्तविक वस्तु का स्वरूप है। इसमें कल्पना नहीं चलती। कल्पना से धर्म भी नहीं करना। कोई कल्पना करने की जरूरत नहीं है। कल्पना से जीव टिक नहीं सकता, कल्पना के आधार पर टिक नहीं सकता। क्योंकि (वह) वस्तु ही नहीं, कल्पना है यह कोई वस्तु नहीं है। इसके आधार पर टिक नहीं सकते।

विश्व में अधिकांश मनुष्य कल्पना से कोई ईश्वर की कल्पना करके इस विश्व का संचालक मानते हैं। कोई शक्ति के रूप में, कोई खुदा के रूप में, कोई ईश्वर के रूप में, कोई भगवान के रूप में, कोई इसु के रूप में - कोई न कोई रूप में (कल्पना करते हैं)। इन की इच्छा के बिना पत्ता नहीं (हिलता)। बहुभाग मनुष्य इस ईश्वर कर्तृत्व में खड़े है, भले ही संप्रदाय अलग-अलग हो। एक जैन के सिवाय ईश्वरकर्तृत्व की कल्पना सारे विश्व के मनुष्यों में है। इनके आधार से कोई उपदेश लेने जाय तो टिक नहीं सकेगा। स्वरूपस्थिरता न आती और इनका मोक्ष नहीं होता।

`गांधीजी' ने `कृपालुदेव' को २७ वें वर्ष में ५३० नंबर का पत्र है (इसमें) एक प्रश्न पूछा है कि, अन्य धर्म से मोक्ष होता है कि नहीं होता ? या मात्र जैन से ही मोक्ष होता है ? तो कहते हैं कि, जो अन्य धर्म के सिद्धांत हैं, इन सिद्धांतो को देखते हुए, ऐसे सिद्धांतो का स्वीकार करने से किसी का मोक्ष नहीं हो

सकता, ठीक ! क्या जवाब देने की खूबी है ! जवाब देने की खूबी कैसी है !! किसीको ऐसा नहीं लगे कि ये जैन का पक्षपात करते हैं और अन्य का विरोध करते हैं, ऐसा नहीं लगे। खुद एकदम मध्यस्थ होकर बात करते हैं।

`पुष्पमाला' के शुरूआत में ही उन्होंने यह बात लिखी। पहली `पुष्पमाला' है ना ? १७ वें वर्ष के पहले १५-१६ वर्ष की बढ़ती हुई उम्र में यह बात लिखी है कि, भाई ! तू चाहे जिस धर्म को मानता हो, मुझे इसका कोई पक्षपात नहीं है। पक्षपात यानी कोई Prejudice नहीं है। सीधा कि उलटा, अच्छा कि खराब। With out Prejudice बात करता हूँ। तू कोई धर्म में मानता हो मुझे इसका कोई पक्षपात नहीं है परंतु जिस राह से संसार मल का नाश हो उस धर्म को तू स्वीकार करना। ठीक ! तू देखते जा तेरे संसार मल का नाश होता है कि नहीं ? इतना ही देखने का है, वह धर्म सच्चा।

इसलिए ज्ञानी सेवा कहते हैं कि, जैनधर्म यह कोई संप्रदाय नहीं, यह कोई वाड़ा नहीं, यह कोई अमुक जाति का धर्म नहीं, अमुक जाति का धर्म नहीं, अमुक समूह का - वर्ग का धर्म नहीं और इसका बहुत बड़ा सबूत भगवान `गौत्तमस्वामी' हैं। `महावीर भगवान' के गणधर हैं ये इनका बहुत बड़ा सबूत है। भगवान को केवलज्ञान होने के बाद छः छः दिन तक दिव्यध्वनि शुरू नहीं हुई तब श्रोता ऐसे बैठे बैठे थक गए। ६६ घंटे भी बैठे रहना पड़े तो स्वाभाविक है। ६६ मिनट में थक जाए, बिना वजह बैठाए तो सज़ा जैसा लगे। ६६-६६ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं निकली। तब इन्द्र ने अवधिज्ञान में देखा कि, बात क्या है ? ऐसा तो कभी नहीं होता। (फिर पता चला कि) इस धर्म की सभा में कोई गणधर

नहीं है। भगवान की वाणी, इसके गंभीर और सूक्ष्म रहस्य को झेल सके ऐसा कोई उत्कृष्ट पात्र चाहिए, जिसे गणधर कहते है वह है ही नहीं। किसे कहें ? ऐसा तो कभी नहीं होता। (फिर पता चला कि) इस धर्म की सभा में कोई गणधर नहीं है। भगवान की वाणी, इसके गंभीर और सूक्ष्म रहस्य को झेल सके ऐसा कोई उत्कृष्ट पात्र चाहिए, जिसे गणधर कहते है वह है ही नहीं। किसे कहें ? भेंस के सामने भागवत पढ़ने से क्या फायदा ? (धर्म सभा में) अंदर बहुत मूल जैन थे, साधु थे (तो भी दिव्यध्वनि नहीं छूटी) ! इसके बाद `इन्द्रभूति' को ले आए। (यह) वेदांत के आचार्य थे, वेदांत के गुरु थे इन्हें ले आए। ये हमारे `गौत्तमस्वामी' हैं। यानी तीर्थंकर का Dcision है - on merits only - गुणवत्ता के ऊपर है। इसके सिवाय - गुणवत्ता के सिवाय वहाँ दूसरी कोई गिनती नहीं है।

भगवान को, गुरु को, ज्ञानी को, योग्यता के साथ संबंध है, गुणों के साथ संबंध है, अन्य किसी के साथ संबंध नहीं है। अर्पणता वाले के साथ भी संबंध नहीं ! कोई ऐसा कहे कि, हम तन, मन, धन की अर्पणता कर दें परंतु हमें सबसे ज्यादा Response मिलना चाहिए, क्योंकि हमारि अर्पणता ज्यादा है। इस धर्म में ऐसा नहीं है। इस धर्म में तो जो गुणवान हो वह पहला, बाकी सब उसके पीछे। फिर चाहे वह नया हो तो भी पहला। यहाँ Seniority के हिसाब से Mark नहीं देते। ये नए आए थे - `गौत्तमस्वामी' समवसरण के अंदर नए आए। पुराने सब रह गए। भगवान के पास किसी की सिफ़ारिश भी नहीं चली कि, साहब, अब हमें ले लो ना कब से बैठे हैं ! नहीं, यहाँ गुणवान के साथ संबंध है, योग्यता के साथ संबंध है। हमारा दूसरे किसी के साथ कोई संबंध

नहीं है। योग्यता को देखकर सहज ही भावों और भाषा का प्रवाह चालू होता है, सहज ही सहज ! ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। योग्यता के साथ यह संबंध है, दूसरे किसी के साथ संबंध नहीं है।

हालाँकि अर्पणता भी योग्यता का एक अंश है परंतु सर्वथा नहीं है। असल में तो गुण प्रगट करने के बाद जो समर्पण होता है उस समर्पण की जाति अलग है और ओघसंज्ञा पूर्वक बिना पहचान समर्पण होता है उसकी जाति अलग है। दोनों की जाति अलग है।

(यहाँ कहते हैं) `**जैसे अकाश में विश्व क प्रवेश नहीं है, सर्वभाव की वासना से आकाश रहित ही है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुषोंने प्रत्यक्ष सर्व द्रव्य से भिन्न, सर्व अन्य पर्याय से रहित ही आत्मा देखा है। जैसे आकाश में विश्व का प्रवेश नहीं है,...**' ऐसे तो आकाश में अवगाहन प्राप्त विश्व है तो भी आकाश निर्लेप है। विश्व से आकाश निर्लेप है। सूर्य, चंद्र, अनेक ग्रह और बादल, चाहे जिस प्रकार के परमाणु आकाश को जराभी इसके साथ कोई रूपीपना नहीं ला देता, अरूपी द्रव्य है, आकाश है यह अरूपी द्रव्य है। सारे विश्व को अवकाश देता है और फिर भी उसे कहीं रूपी पना नहीं होता, कहीं उसे कोई पदार्थ का कोई असर, आकाश को नहीं पहुँचता। निर्लेप रहता है इसे वासना से रहित कहा है। यानी कि इसकी बाँस भी इसमें नहीं रहती। पदार्थ तो बसता नहीं परंतु आकाश सुगंध-दुर्गंधयुक्त भी नहीं होता। इसकी गंध भी इसमें नहीं आती, इसमें परछाई भी नहीं पड़ती। आकाश आकाश ही रहता है, भिन्न रहता है, तद्दन भिन्न रहता है।

`**वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुषों ने प्रत्यक्ष सर्व द्रव्य से भिन्न, सर्व**

अन्य पर्याय से रहित ही आत्मा देखा है।' पर पदार्थ के साथ प्रत्यक्ष रूप से आत्मा का कोई संबंध नहीं होता वैसा सम्यग्दृष्टि पुरुषों ने देखा है यानी अनुभव किया है। यह पर अपेक्षित बात है, पर सापेक्ष बात है। सम्यग्दृष्टिओं ने स्वसमय को - स्वस्वरूप को कैसा देखा है यह अलग बात है। हमारे रात के स्वाध्याय में `द्रव्यदृष्टि प्रकाश' चलता है इसमें यह विषय बहुत चलता है कि, सम्यग्दृष्टि ने आत्मा को कैसा देखा है ? परंतु यह पूरी Positive side है - यह स्व संबंधित बात है।

यहाँ भेदज्ञान पहले कराना है। सारे विश्व से तेरा आत्मा भिन्न है। कोई परमाणु या कोई जीव के साथ तेरा कोई संबंध नहीं है। संबंध रह सके या संबंध हो सके ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। यही वस्तुस्थिति का स्वरूपज्ञान वीतरागता का कारण है। जितने संबंध की कल्पना की; (संबंध) है नहीं, नहीं होने पर भी माना कल्पना से कल्पना की इतना राग (है)। इतना राग होगा। और राग मात्र दुःखदायक है, राग मात्र दुःखदायक है।

हालाँकि कुछएक प्रकार के राग में संसारी जीव सुख की कल्पना करते हैं। परंतु उसमें वास्तविकता नहीं होने के कारण आखिर में तो दुःखदायक फलता है। इसका अंजाम दुःख में आता है, सुख में नहीं आता। यानी `पश्चात् दुःख ते सुख नहीं' जिसके पीछे दुःख हो उसे सुख कैसे कहें ? जिसके पीछे दुःख राह देखकर खड़ा ही है उसे सुख कैसे कहें ? यह तो युक्त से समझाया है। अनुभव से देखा जाए तो जिस समय राग की उत्पत्ति होती है उस समय उस जीव को आकुलता का अनुभव हुए बिना नहीं रहता।

राग में तीन Factor हैं इसमें एक Factor दुःख है। `समयसार'

की ७२ वीं गाथा है - `' दुःख दुःखस्वरूप है, दुःख का कारणरूप है, मलिन है, अशुचि यानी मलिन भाव है और अपने स्वरूप से विपरीत है - विरोधी है। स्वभाव का विरोधी है, राग है वह ज्ञानस्वभाव का विरोधी है। राग बढ़ता है तो ज्ञान पर आवरण आता है। क्या होता है ? जितना राग रस बढ़ता है उतना ज्ञान का आवरण आता है। (इसलिए) ज्ञान का विरोधी है - स्वभाव का विरोधी है - आत्मा का विरोधी है। तमाम प्रकार के राग-द्वेष-मोह में ये तीन मुद्दे - ये तीन Factor होते होते और होते ही हैं। इसलिए इन्हें एक `आस्रव' शब्द से बता दिया। भेद इनके अनेक हैं।

अतः यहाँ ऐसा कहते हैं कि, संसार में जीव ने बहुत संबध बाँधे और जितने बाँधे उतने छोड़ने पड़े, इच्छा पूर्वक या बिना इच्छापूर्वक। ऐसे तो संसार दृष्टि में क्या विचार होता है कि, हमारे जितने संबंध ज्यादा हो उतना अच्छा ! और इसका अहम् भाव भी ऐसा होता है कि, देखो भाई, हमारे यहाँ प्रसंग था तब Reception में कितने आए, देखो ! खाने पर तो हम सबको नहीं बुलाते परंतु Reception में संख्या बड़ी होती है। इसका अहंभाव है। होता है ना ? (यहाँ कहते हैं कि) जितना संबंध ज्यादा उतना दुःख भी ज्यादा समझ लेना। इतनी आबरू ज्यादा नहीं ? यह लौकिक दृष्टि से ऐसी कोई बातें हैं, यहाँ प्रकरण अलौकिक दृष्टिकोण का है। लौकिक दृष्टि से चाहे जैसी गिनती हो परंतु उससे आत्मा को सुख-शांति नहीं होगी सो नहीं ही होगी। इससे आत्मा को कोई सुख-शांति नहीं होने वाली। ये सब कहने मात्र शुभ प्रसंग हैं अशुभ, कहलाते हुए शुभ प्रसंग वास्तव में हैं कैसे ? अशुभ आता है ? `सोगानीजी' के एक पत्र में आता है।

एक पत्र मुझे लिखा उसमें लिखा `आपको कुंकुंपत्रिका भेद

रहा हूँ परंतु ऐसे अशुभ प्रसंग पर आपको बुलाना ठीक नहीं लगता !' व्यवहार दृष्टि से लग्न पत्रिका भेद देता हूँ। परंतु ऐसे अशुभ प्रसंग में आपको बुलाना मुझे ठीक नहीं लगता। बेटे के लग्न प्रसंग को अशुभ लिखा ! पत्रिका में शुभ छपवाना पड़ता है, यह तो लौकिक दृष्टि से, कुटुंब की दृष्टि से सब करना पड़ता है परंतु उनके अभिप्राय में जो था वह उन्होंने पत्र में लिखा कि, ऐसे अशुभप्रसंग में आपका क्या काम है ?

इन शुभ प्रसंगों में जीव को चाहे जितना उत्साह आए, चाहे जितना वह प्रसन्न हो या नाचता हो, आजकल तो नाचते भी हैं ना ? परंतु जहाँ प्रसंग पूरा होते ही उन्हें भी `हाश...!' होनेवाला है। क्या होगा ? `हाश...! इन दो-तीन बहुत काम किया, बहुत बोझा रहा, बहुत उपाधि रही।' `पश्चात् दुःख ते सुख नहीं' कोई भी प्रसंग ले लो ना ! जिसको सुख माना जाता है ऐसा जगत का कोई भी प्रसंग, कोई भी उदय ले लो ना ! ज्ञानी तो कहते हैं कि, यह तो तुझे समझ में नहीं आता इसलिए बाद में दुःख होता है ऐसा करके इसे `सुख नहीं' कहते बल्कि अनुभव (में उस वक्त भी यह दुःखरूप ही है)। मन में ऐसा चिंतन और सूक्ष्म विकल्प चले यह भी दुःखरूप है। यह बात `समयसार' की १४४ वीं गाथा की टीका में लिखी है। यह दुःख रूप अनुभव होगा तो ही जीव वहाँ से हटेगा। नहीं तो कषाय की मंदता बहुत होने से स्थूल आकुलता नहीं होती तो भी वहाँ सुख लगेगा तो जीव रुक जायेगा, दुःख लगे तो हट जायेगा। इसलिए खुद की जो कुछ विकल्पात्मक भाव आत्मा संबंधित चाहे जैसे रस वाले आते हो तो भी उनकी कीमत और उसपर वज़न नहीं जाना चाहिए। इसका वज़न निकाल देना।

ज्ञानियोंने तो शुद्ध परिणमन की कीमत भी शुद्ध स्वरूप के सामने जरा भी नहीं आंकी, तो ये तो अभी शुभभाव हैं। मुमुक्षु की भूमिका में तो अभी शुद्धता प्रगट नहीं हुई, शुभभाव हैं उनकी कितनी कीमत करनी ?

श्रोता :- एक जड़ है, एक चेतन है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, जड़ चेतन जितना फ़र्क है। राग है यह जड़ है और आत्मा है यह चेतन है। (राग) जड़ जैसा होने के कारण इसे जड़ कहने में आता है। जड़ प्रकृति के साथ मिलकर उत्पन्न होने के कारण, उदय के साथ जुड़कर उत्पन्न होने के कारण इसे जड़ कहा जाता है।

(यहाँ) क्या कहते हैं ? `**जैसे आकाश में विश्व का प्रवेश नहीं है,...' वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुषों ने प्रत्यक्ष सर्व द्रव्य से भिन्न, सर्व अन्य पर्याय से रहित ही आत्मा देखा है।**' सभी पदार्थों से भिन्न और सर्व पर द्रव्य की अवस्थाओं से भी भिन्न। दो बातें करने के पीछे हेतु है कि, भ्रांति अवस्था से होती है। पर पदार्त की अवस्था को देखकर आत्मा भ्रांति से ऐसा झूठा अनुभव - ऐसा मिथ्या अनुभव करता है कि, मुझे इस पदार्थ की इस अवस्था का असर होता है। परमाणु तो परमाणु है, परंतु ठंडी का असर, गरमी का असर - इन पर्याय का असर मुझे होता है। ठंडी-गरमी के परमाणु दिखाई नहीं देते। वातावरण में ठंडी-गरमी है दिखती है ? नहीं दिखती। मुझे इनकी पर्याय का असर होता है। तो कहते (हैं), नहीं, तुझे ठंडी नहीं लगती, गरमी नहीं लगती। यह मिथ्या अनुभव है, ऐसा कहते हैं। लगती होती तो मुनियों को भी लगे और जिनेन्द्र भगवान को भी लगे। वे तो खुल्ले आकाश में निर्वस्त्र दशा में रहते हैं। तुझे मालूम पड़ता है इतनी बात जरूर है। ठंडी-गरमी तुझे मालूम

पड़ती है। मालूम पड़ती है वह ज्ञान का जानने का धर्म है इसलिए मालूम पड़ता है, लगने का धर्म नहीं है। वह कोई अंदर प्रवेश कर ले ऐसा नहीं है। पर प्रवेशभाव यह मिथ्या अनुभव है। परप्रवेशभाव है यह पूरा मिथ्या अनुभव है। इसीलिए ज्ञान के स्वसंवेदन में स्थिर साधक और मुनि पर द्रव्य के पर्याय के असर से रहित चाहे जैसी स्थिति में स्वरूप में स्थिर रह सकते हैं।

अपने पुराणों में और इतिहासों में ऐसे इनके जीवंत दृष्टांत हैं - `गजसुकुमार' का दृष्टांत है। (`गजसुकुमार' का विवाह निश्चित हुआ था परंतु भगवान की वाणी सुनकर दिक्षा ले ली) निकल गए। कन्या के पिता सहन नहीं कर पाए - उनके ससुर को (ऐसा लगा कि) इसने मेरी बेटी का भव बिगाड़ा. उस जमाने में Re-marriage नहीं होती थी। मेरी बेटी का भव इसने बिगाड़ा। (उनके) पीछे-पीछे निकले। वे तो स्मशान में जाकर ध्यान में बैठ गए थे, मुनिदशा में आ गए थे। (ससुरने) मिट्टी लेकर माथे पर सिगड़ी जैसा बनाकर, स्मशान की जो अग्नि थी - सारा कोयला उसमें भर दिया। सिर सितगने लगा ! इससे ज्यादा गरमी कहाँ लगे ? बाल जलेंगे फिर सिर जलने लगेगा। ध्यानस्थ दशा में रहकर केवलज्ञान लिया ! गरमी लगी होती, लगती होती तो आकुलता हुए बिना नहीं रहे, ध्यान छूट जाए। ये ध्यान कैसा होगा ! और इस ध्यान के आलंबन में आया हुआ परमात्मा कैसा रोगा कि, जिनके ध्यान में सिर सिलगे तो भी पता नहीं चले !! कैसा परमात्मा होगा ? कल लिया था न ? यह अचिंत्य द्रव्य है ! इसकी जिज्ञासा भी कोई अपूर्व आनी चाहिए।

कल एक बात करनी रह गई थी, बाद में याद आई। पच्चीस वर्ष का इकलौता लड़का, बीस-पच्चीस वर्ष का इकलौता लड़का

खो गया हो, Kidnap कर लते हैं न अभी ? पता नहीं चलता हो, चाहे जो कारण बना हो, खो गया हो, कोई ले गया हो या कहीं Accident से मर गया हो, चाहे जो हुआ हो, पता नहीं चलता हो तो किस तरह उसे ढूँढ़ेगा ये कहो ? किस तरह ढूँढ़ेगा ?

(एकबार) मैं `कलकत्ता' में था। करीब बीस वर्ष हुए। इस बात को करीब बीस वर्ष हो गए। (जो लड़का खो गया था) उसके नाना बीस गाड़ियाँ चौबीस घंटे दौड़ाते थे। कितनी ? गाड़ियाँ और टैक्सियाँ, बीस जनों को पीछे लगा दिया था। चारों ओर ढूँढ़े, चारो ओर ढूँढ़े। अभी तक पता नहीं चला। इनकी दशा इतनी खराब ही गई - न खाना भाए, न नींद आए। खाने बैठें तो खाना भाए नहीं, ऐसा कहे कि, मुझे भूख नहीं लगी। अरे... परंतु बारह बजे, एक बजे, दो बजे, चार बजे... तो कहे कि, परंतु भूख नहीं लगी मैं क्या खाऊँ ? ऐसी दशा होती है। खाने के समय भूख नहीं लगती, नींद के समय नींद नहीं आती। परंतु आत्मा अनादि से खो गया है तो भी अच्छा-अच्छा खाकर सो जाता है। अच्छे से अच्छा सब बनाता है ! खाकर सो जाय, ड़कार... लेकर !! पेट भर गया अब, चलो अब आराम करें। इसकी चिंता जब तक लगेगी नहीं तब तक मिलेगा कहाँ से ?

आत्मा यह कोई सामान्य पदार्थ नहीं है। परमात्मा - तीन लोक का नाथ हैं ! कैसे हैं ? परमात्मा है और तीनलोक का नाथ हैं। एक अच्छी खासी बड़ी कंपनी हो न ? अच्छी खासी बड़ी कंपनी हो, जिसकी Agency ली हो और इसमें से अच्छा खासा पैसा मिलता रहता हो, इसका मैनेजर आए या इसका चैरमेन आए ना, तो भी इसका Protocol होता है कि नहीं ? इसका Receivment कितना कुछ करते हैं कि नहीं करते ? अखबार में विज्ञापन देते

हैं फलाना-ढ़ीकना, ऐसा है वैसा है ? और Prime minister हो तो ? एक देशमें से दूसरे देश में जाय जो कि, इतनी तोपों की `सलामी दो इनको !' इक्कीस तोप फोड़नी, ठीक ! तो तीनलोक के नाथ पधारें तब कितनी तैयारी चाहिए ! ये तो सब जगत के पामर प्राणी हैं तो भी Status के प्रमाण में सब होता है। हम ऐसे ही बहुमान बिना - स्वरूप के बहुमान बिना चाहे जो करें (उससे) क्या हो ? स्वरूप प्राप्ति नहीं होती। चाहे जो करें तो भी स्वरूप प्राप्ति नहीं हो।

जो सम्यग्दर्शन में स्वरूप प्राप्ति है - जो स्वानुभव में स्वरूप प्राप्ति है यह दूसरा कुछ नहीं, स्वस्वरूप की अपूर्व महिमारूप एक दशा है, और कुछ नहीं। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, स्वानुभव है यह निजस्वरूप की कोई असाधारण महिमारूप दशा सिवाय दूसरा कुछ नहीं, ठीक ! निर्विकल्प स्वरूप की इतनी महिमा आते-आते दशा निर्विकल्प हो गई, तब सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान हुआ।

वस्तु निर्विकल्प है, अनंत महिमावंत है (उसकी) पहचान होने पर `कृपालुदेव' ने उसे दूसरा समकित कहा। `परमार्थ की अनुभवांश से प्रतीति' `परमार्थ की स्पष्ट अनुभवांश से प्रतीति' ७५१ पत्र में यह बात ली है। इसे दूसरा समकित कहा है। ऐसा जब निश्चय होता है, प्रतीति आती है, विश्वास आता है तब स्वरूप की बेहद महिमा आती है। कैसी महिमा आती है ? बेहद महिमा आती है ! यह महिमा प्रतिक्षण बढ़ती जाती है, प्रतिक्षण ये महिमा बढ़ती जाती है और एक ऐसी दशा तक बढ़कर आ पहुँचती है कि जैसा निर्विकल्प स्वरूप है, दशा भी ऐसी एकाकार निर्विकल्प हो जाती है। इसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहते हैं। यह स्वरूप की महिमा के सिवाय दूसरी कोई बात इसके अंदर नहीं है। स्वरूप महिमा की

तीव्रता में उत्पन्न हुई एक स्थिति है। इसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहा जाता है कि, जिस स्थिति के कारण जीव को फिर अनंत भव रहते नहीं। इसका भव भ्रमण खत्म हो जाता है। भवभ्रमण की वेदना जो प्रारंभ में आई थी सम्यग्दर्शन होने पर यह भवभ्रमण यहाँ खत्म किया। मुमुक्षुता का प्रारंभ जिस तरह किया था इसका पहला फल यहाँ चौथे गुणस्थान में आया। मुमुक्षुता की चरमसीमा - उत्कृष्ट दशा पार करके फिर ज्ञानदशा की शुरूआत होती है यानी भवभ्रमण का नाश पहले होता है साधकदशा में आगे बढ़कर और निर्वाण पद को बाद में प्राप्त होते हैं।

कहते हैं कि, `**सर्व अन्य पर्याय से रहित ही आत्मा देखा है।**' प्रत्यक्ष देखा है। `**देखा है**' यानी प्रत्यक्ष देखा है कि, इस आत्मा को कोई द्रव्य से और द्रव्य की कोई पर्याय से कुछ लेना-देना नहीं है। ऐसा का ऐसा द्रव्य निर्लेप रहता है, असंग रहता है। तो कहते हैं (कि), इसका क्या सबूत ? कहते हैं कि, देखो तुम ज्ञानस्वभावी आत्मा हो ना ? तेरे ज्ञानने अब तक कितने स्वाद चखे, कहो जरा ? अनंत काल में कितने स्वाद चखे होंगे ? तेरे ज्ञान में कौन-सा स्वाद कायम रहा यह बात दे ? है ? कितनी ठंड़ी-गरमी सहन की ? नरक की ठंड़ी-गरमी सबसे ज्यादा है कि, जिसका एक कण यहाँ आए तो हज़ारों लोग मर जाय ! कितने ! एक कण यहाँ आए तो माइलों तक के हज़ारों लोग मर जाए ! इसे भोगा है - सागरोपम के काल तक भोगा है। अभी इनमें से तेरे आत्मा में क्या है बाद दे ! इनमें से आत्मा में कोई भी प्रकार का एक अंश में भी असर है क्या ? कुछ असर नहीं है। इसका अर्थ क्या ? कि, वस्तुस्थिति ऐसा बताती है कि, आत्मा कोई परिस्थिति से लिप्त होता ही नहीं। कोई भी परिस्थिति से

लिप्त नहीं होता।

(`कृपालुदेव' ने) १२८ (पत्र में) कहा है, मैं जिसके बिना एक क्षण भी नहीं जी सकूँ ऐसा तीव्र राग हुआ परंतु जीव को मात्र कल्पना थी। एक क्षण भी नहीं जी सकूँगा ऐसा माना था। इसके बिना अनंतकाल से अभी भी ऐसा का ऐसा जी रहा है ! यह जीव क्यों ऐसी कल्पना करके खुद ही दुःखी हुआ ? ज्ञानियों ने जैसा आत्मा देखा है, प्रत्यक्ष देखा है यही वास्तविक आत्मा का स्वरूप है कि, जिसे किसी के साथ कोई संबंध नहीं है।

`जिसकी उत्पत्ति किसी भी अन्य द्रव्य से नहीं होती, ऐसे आत्मा का नाश भी कहाँ से हो ?' आत्मा बनाया नहीं जा सकता और बनाए तो किसमें से बनाए यह सवाल है ? आत्मा बनाया नहीं जा सकता। आत्मा भी नहीं बना सकते और एक नया परमाणु भी नहीं बना सकते। सभी अवस्था से अवस्थांतर होते हैं।

जो जगत कर्ता ईश्वर को मानते हैं वे एक प्रश्न में दुविधा में पड़े ऐसी बात है कि, यदि इस विश्व को ईश्वर ने बनाया हो तो किसमें से बनाया ये कहो ? एक ही प्रश्न - वेधक प्रश्न है यह। किसमें से बनाया ये कहो ? कोई जवाब नहीं है। शून्यमें से बनाया ? किसमें से बनाया ? शून्यमें से तो कुछ होता नहीं। तो फिर किसमें से बनाया ? जिसमें से बनाया वह किसमें से बना ? कोई जवाब नहीं है।

`कृपालुदेव' ने ये प्रश्न पूछे हैं। ये प्रश्न उठाए हैं। शुरूआत के वर्षों में ये सब प्रश्न उन्होंने लिए हैं और बहुत शैली से कितनी बातें लिखी हैं कि, `जो क्षत्रियपुत्र...' `महावीर भगवान' के लिए लिखा है। क्षत्रिय के पुत्र थे ना ? `सिद्धार्थ राजा के' ! `जिस क्षत्रिय पुत्र ने विश्व क उत्पादक ऐसे विश्व के आधारभूत और विश्व के

पिता ऐसे ईश्वर को जड़-मूल से उड़ाया !' `क्या किया ! ऐसे ईश्वर ने पिता को शरमिंदा करे ऐसे पुत्र को जन्म क्यों दिया ये कहो ना ? बहुत शैली से लिखा है। जो पिता का नाम उडाएँ कि, `चल... चल... तू मेरा पिता नहीं !' इसे वें जन्म क्यों दें ? इन्हें पता नहीं था कि जन्म लेने के बाद यह ऐसा करेगा ? ऐसा बोलेगा यह इन्हें पता नहीं था ? इसलिए यह साबित होता है कि, ईश्वर ने कोई विश्व को बनाया नहीं और वैज्ञानिक दृष्टि में यह बात किसी तरह बैठे ऐसा नहीं है। जीव चाहे जितनी कल्पना करें, (परंतु) वैज्ञानिक दृष्टि में बात बैठे ऐसी नहीं है। आज का जगत विज्ञान में बहुत मानता है परंतु धर्म के क्षेत्र में अंधश्रद्धा के सिवाय दूसरी परिस्थिति आज भी नहीं है। फिर चाहे जितना विज्ञान पढ़ा हो तो भी धर्म के क्षेत्र में तो अंधश्रद्धा के सिवाय दूसरी कोई परिस्थिति नहीं है।

`जिसकी उत्पत्ति किसी भी अन्य द्रव्य से नहीं होती, ऐसे आत्मा का नाश भी कहाँ से हो ?' और यह आत्मा मैं हूँ। यह आत्मा मैं होने पर (मेरा नाश भी नहीं होता)। परंतु आत्मा यानी कौन ? कि, आत्मा यानी मैं खुद। किसी दूसरे बात नहीं है - Third person की भी बात नहीं है। आत्मा यानी मैं खुद। शास्त्रों में इस तरह बात चली है। `प्रवचनसार' में आता है कि, आत्मा यानी कौन ? संस्कृत में टीका है (यानी लिखते) हैं कि, `**अरं इति**' इसका जवाब क्या ? मैं खुद। आत्मा यानी कौन ? कि, मैं खुद जब मेरा नाश होने वाला न हो तो मुजे अब कोई भी प्रकार के भय में जीने का सवाल नहीं उठता, निर्भय हो जायेगा। मेरा नाश भी कहँ से होगा ? यह अजर अमर हो गया लो, ठीक ! अमरत्व मिले तो कितना आनंद आए ? इतना आनंद सम्यग्दृष्टि को होता है। अमरत्व

मिल जाने से इतना आनंद सम्यग्दृष्टि को होता है और कोई भी आत्मा सम्यग्दृषअटि हो सके ऐसे परिणाम करो। इसमें कुछ लेने-देने का सवाल नहीं है। आप इतना दान दो और इतना त्याग करो, यह बात नहीं है। परिणाम को बदलो। आपके श्रद्धा-ज्ञान को पलट दो। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई कि अमर पद मिल गया। फिर आप राजा हो या रंक हो। आपको अमर पद की भेट हो गयी और आप मरनेवाले नहीं इसकी आपको भरोसा हो गया। शरीर बदलना यह कपड़े बदलने जैसा लगेगा। शरीर बदलने का समय आएगा। परंतु यह कपड़े बदलने जैसा लगेगा, इससे ज्यादा कुछ नहीं लगेगा। कुछ नहीं, यह कपड़ा बहुत वर्षों से इस्तेमाल किया है, अब गल गया है, अब जोड़ लगाकर भी टिके ऐसा नहीं है। बहुत गल जाए फि तो जोड़ लगाने से भी नहीं टिके। कुछ नहीं, अब बदल दो।

`**अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मात्र मृत्यु की भ्रांति है।**' देखो, कितनी अच्छी बात लिखी है ! खुद के अजर अमर पद का अज्ञान है। ये स्वाध्याय आदि इसका निश्चय करने के लिए हैं - पहचान करने के लिए हैं। पहचान करेगा उसे अनुभव हुए बिना रहेगा नहीं। क्योंकि यह दूसरा समकित है। उसे तीसरा समकित आए बिना रहेगा नहीं। `**अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मात्र मृत्यु की भ्रांति है।**' यहाँ स्वरूप के प्रति का प्रमाद क्यों लिया ? (क्योंकि) कितने ही जीवों को तो कुछ पता नहीं कि, आत्मा अजरअमर शाश्वत है।

परदेश में जाओ तो यह जो पश्चिम की प्रजा है उन्हें कुछ पता नहीं है। आत्मा क्या पदार्थ है, इसका विज्ञान क्या है इसकी कुछ पता ही नहीं है। एकदम अनजान हैं, अज्ञान यानी अनजान

हैं। यहाँ हिन्दुस्ता में तीर्थंकरों की करोड़ो-अरबों वर्ष से यह अध्यात्म विद्या चलती आती है। इसलिए यहाँ हर एक संप्रदाय में आत्मा की बातें हैं। हमारे यहाँ देश में बाल कटाने जाए तो नाई भी बाल काटते-काटते Philosophy चलाएगा ! वह भी दो बात करेगा, हँ ! तत्त्वज्ञान की दो बात करेगा। अपने यहाँ इतना ज्यादा तत्त्वज्ञान का फैलाव है कि, कुछ पढ़ा-लिखा न हो, बचपन से बाल काटना सीखा हो, वह बाल काटते-काटते आपको दो बात सुनाएगा ! एक वैद्यक और एक यह तत्त्वज्ञान - इन दोनों में चाहे जो प्रवेश कर लेगा। इसमें किसी को कोई डिग्री लेने की जरूरत नहीं ऐसा हो गया है। खाँसी हो तो ये चार दवा हैं। कोई भी बता देगा, डॉकटर हो कि नहीं हो और धर्म के क्षेत्र में दो-चार बातें कहेंगे ! अपने यहाँ क्या है, माहौल ही ऐसा है। तीर्थंकर यहाँ होते हैं ना ? इस भारतभूमि में तीर्थंकर होते हैं। अरबों वर्ष तक होते हैं और उस वक्त तो बहुत ही धर्म का वातावरण था। बहुत ही Atmosphere जमेता है। तीर्थंकर विचरते हों तब आपको सारा Environment ही धर्म मय दिखे। फिर इसकी अवनति होते-होते अभी भी इतना रह गया है, एकदम नाश नहीं होता। ऐसा काल है तो भी कुछ तो रह जाता है।

वैसे यहाँ पता है कि, आत्मा अजरअमर है ऐसा पता होने वाले जीव को अनुभव करने का प्रमाद होता है ! क्या होता है है ? प्रमाद होता है यानी आलस करके सो जाते हैं ऐसा नहीं, दूसरे काम में लग जाते हैं। आत्मा का अनुभव करने के बजाय दूसरे-दूसरे काम में लग जाते हैं कि, अभी मुझे यह काम है और अभी मुझे यह काम है, अभी दुकान ऐसी चलती है और धंधा ऐसा चलता है, उगाही ऐसी है और फलाना ऐसा है। छप्पन तरह

के लकड़ोमें से आत्मा का अनुभव करने का पुरुषार्थ पता हो तो भी जीव कर नहीं सकता। पता तो बहुत को है। अपने यहाँ यह बात नई नहीं है। आत्मा शाश्वत है, अजरअमर है यह बात नई नहीं है, परंतु जीव Priority नहीं देता।

यथार्थ प्रकार से मूल्याँकन नहीं होने के कारण जीव Priority नहीं देता। यानी दूसरे-दूसरे काम की Priority रहती है। आत्मकल्याण करना वह Last Priority में रह जाता है। फलतः जो कुछ थोड़ा-बहुत करता है यह सब शून्य ही शून्य रहता है, इसका एक Mark भी नहीं मिलता। इसे यहाँ प्रमाद कहा है।

**`अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मात्र मृत्यु की भ्रांति है।'** बाकी आत्मा अजरअमरपद स्वरूप ही है। यह भी कोई नया बनाना या करने का नहीं है। मात्र उलटा अभिप्राय - Misconcept है इसे बदलना है। `मैं आदमी हूँ, इतने वर्ष के बाद मैं फिर मर गया तो ?' इस तरह मरने के पहले तो यहाँ से ड़र शुरू हो जाता है - भय शुरू हो जाता है और इसमें भी अगर कुछ छाती में दर्द हो तब ज्यादा असर हो जाता है।

पहेलवान जैसे लोग देखे हैं। देह का अभिमान बहुत हो कि, अपने को कुछ नहीं होगा। इन्हें अचानक जरा कुछ हो तो फिर सीधे Depression में आए। शरीर शक्ति को भूल जाते हैं कि, मैं अब तक इस शक्ति का अभिमान करता था इसका क्या ? खयाल आता है कि, यह शरीर कभी भी दगा देगा। परंतु यह शरीर स्वरूप मैं हूँ, ऐसा जो अभिप्राय - ऐसा जो निश्चय, यह निश्चय तुझे दुःखदायक है। गलत निश्चय तुझे दुःख देता है। और कुछ नहीं। अंधेरे में एक पेड़ का कटा हुआ तना था, तो ड़र लगा कि, अरे...! यहाँ कोई आदमी मारने के लिए अंधेरे में छुपकर

खड़ा है ! बात में कुछ दम नहीं था परंतु ड़र लगे वैसे यह मृत्यु की भ्रांति से ड़र लगता है। मृत्यु जैसी कोई चीज़ नहीं है। इस जगत में मृत्यु जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। जिसका सबसे ज्यादा ड़र है इसका बिलकुल भय न लगे ऐसी सुगम और सरल बात ज्ञानियों ने की है। (इसलिए कहते हैं कि) यह भ्रांत है।

**`उसी भ्रांति को निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निजअनुभवप्रमाण - स्वरूप में परम जाग्रत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है।'** अब ज्ञानी की बात ली। जगत के प्राणी भयवान होकर बिना मृत्यु के मरते हैं, बिना मौत के मरते हैं जबकि ज्ञानी निर्भय हैं। ज्ञानी किस तरह निर्भय हैं इसका बहुत अच्छा यह वचनामृत लिया ह और `कृपालुदेव' ने इसमें थोड़ा विशेष अध्यात्म के भाव भी लिए हैं ये काल के स्वाध्याय में लेंगे।

प्रवचन - १३ दि. ०१-०३-१९९७
पत्रांक-८३३ (४)

('श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत) पत्र - ७३३वाँ चल रहा है। पन्ना ६३१। तीसरे पैराग्राफ से '**अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मात्र मृत्यु की भ्रांति है।**' अपने शाश्वत आत्मस्वरूप की भ्रांति होने के कारण अपनी देहात्मबुद्धि के कारण देह है तब तक ही अपना अस्तित्व - अपनी हयाती मानी जाती हैं। देह के वियोग से मेरा नाश - देह के नाश से मेरा नाश, ऐसा भ्रांतिरूप अज्ञान वश अनुभव होता है। भ्रांति गत् अनुभव कहो या झूठा अनुभव कहो, दोनों एक बात है। जिसे पता नहीं उसकी भी यही दशा है और जिसे पता है फिर भी प्रमाद है उसकी भी यही दशा है। दोनो को भय एकसमान होगा, मृत्यु का भय तो दोनो को एक समान ही होगा।

'**उसी भ्रांति को निवृत्त करके...**' उस भ्रांति का नाश करके। निवृत्ति यानी नाश करना। उस भ्रांति को निवृत्त करके '**...शुद्ध चैतन्य निजअनुभवप्रमाणस्वरूप में परम जाग्रत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है।**' ज्ञानी किस तरह निर्भय हैं इसकी बात करते हैं। उन्हें ऐसी भ्रांति का नाश हो गया है। पहले उनके भी थी। अनादि से कोई आत्मा ज्ञानी नहीं, कोई आत्मा मुनि नहीं, कोई आत्मा

भगवान नहीं। सभी नए ही बनते हैं। कोई भी संसारी जीव भ्रांति मिटाकर ज्ञानी बनता हैं। ज्ञानी बनने के बाद साधना में आगे बढ़कर मुनि गनते हैं, यही मुनि साधना में आगे बढ़कर ऐश्वर्य - परम ऐश्वर्य पद को - भगवान पद को प्राप्त करते हैं। अत: ऐसी भ्रांति गई तभी से ज्ञनी निर्भय हैं। कैसे निर्भय हैं ? कि, शुद्ध चैतन्यस्वरूप में परम जाग्रत होकर। अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में निजअनुभवप्रमाणस्वरूप में (जाग्रत होकर)। स्वरूप में भी इतना ही लिया है। जितना अनुभव है उतना स्वरूप है। स्वरूप कैसा है ? और स्वरूप कितना है ? कि जितना अपना अनुभव है इतना है।

`कृपालुदेव' ने स्वरूप के विषय में यह एक विशिष्ट बात लिखी है ! शुद्ध चैतन्य आत्मस्वरूप में जाग्रत होकर, ऐसा नहीं लिखकर `**शुद्ध चैतन्य निजअनुभवप्रमाणस्वरूप में जाग्रत होकर**' ऐसा लिया है। क्योंकि यह जाग्रति अनुभव के बिना नहीं होती। यहाँ मोक्षमार्ग की बात है। मुमुक्षु की जाग्रति है यह तो स्मरणपूर्वक जाग्रति होती है और कोई आगे बढ़े हुए मुमुक्षु को स्मरण के उपरांत कुछ अंश में सावधानी आती है कि, `मैं आत्मा हूँ'। ज्ञानी को अनुभवपूर्वक सावधानी है। ज्ञानी भी स्वरूप में सावधान हैं परंतु स्वानुभवपूर्वक सावधान हैं।

स्वानुभव का विषय जो आत्मस्वरूप है, जैसा आत्मस्वरूप है, जितना आत्मस्वरूप है उतना ही आत्मस्वरूप केवलज्ञान का विषय है। ऐसा भी कह सकतें कि, तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञदेव केवलज्ञान में आत्माको जैसा देखते हैं, अनुभव करते हैं वैसा ही आत्मा ज्ञानीपुरुष छद्मस्थ अवस्था में चतुर्थ गुणस्थान में अनुभव करते हैं। विषय में फ़र्क नहीं होता, ऐसा और इतना ही है, विषय का प्रमाण कुछ नहीं बदलता। जो कुछ बदलता है यह दशा का प्रमाण बदलता

है। अनुभव करनेवाली जो दशा है वह गुणस्थान के अनुसार है परंतु यह दशा का विषय तो शुरू से आखिर तक एक सरीखा है, इसमें कोई फ़र्क नहीं है।

श्रोता :- जो निजअनुभवस्वभावप्रमाण कहा वह बढ़ता - घटता है ?

समाधान :- अनुभव का प्रमाण कम - बेश है। कम - बेश यानी जाति अपेक्षा से कम - बेश नहीं। Quality एक समान है डिग्री में कमी - बेशी है। यानी क्या ? बहुत स्पष्ट करें तो - यहाँ आत्मस्वरूप का जो ज्ञान है यह स्वरूपग्राहक ज्ञान है। कैसा ज्ञान है ? स्वरूप को ग्रहण करने वाला। यह स्वरूप को ग्रहण करता है, यह शुरूआत से स्वरूप को ग्रहण करता है परंतु यह ग्रहण करने - करने में फ़र्क है, पकड़ में फ़र्क है, पकड़ में फ़र्क है। यानी इसकी जो Depth है - ज्ञान की जो गहराई है - इसकी Depth है इसमें फ़र्क है और इसके कारण स्वसंवेदन में भी फ़र्क है। स्वसंवेदन की जो डिग्री है यह चौथे गुणस्थान के बजाय पाँचवें गुणस्थान में ज्यादा है, पाँचवें गुणस्थान के बजाय सातवें गुणस्थान में और हर एक उपर के गुणस्थान में स्वसंवेदन की डिग्री ज्यादा है।

केवलज्ञान में अनंत स्वसंवेदन है। केवलज्ञानी परमात्मा को - अरिहंत देव को अनंत स्वसंवेदन है। अतः अपने जैन शासन में अरिहंत देव की मूर्ति की स्थापना का व्यवहार है। यह व्यवहार अनादि से है। किस लिए इस व्यवहार का सुयोग्य संकलन किया है अथवा इस व्यवहार की स्थापना की है, क्यों इसकी व्यवस्था की है ? कि, अनंत स्वसंवेदन है उसे वहाँ मूर्तिमंत किया है। स्वसंवेदन यह अरूपी आत्मा की अरूपी अवस्था है। आत्मा स्वरूप

से अरूपी है। अरूपी आत्मा की जो अरूपी अवस्था है इसे हम मंदिरजी में मूर्तिमंत किया हैं और दर्शन करते वक्त हम यदि इस अनंत स्वसंवेदन को Visualize कर सकें; विचार में लेने की बात नहीं, हँ ! विचार से थोड़े आगे की बात है, इसे देख सकें - देख सके तो खुद का स्वसंवेदन का आविर्भाव होने लगे। ऐसे जिनदर्शन की व्यवस्था के अंदर परमार्थ निहित है - इसमें परमार्थ छिपा है। इसलिए जिनदर्शन का व्यवहार अनादि से हमारे शास्त्रों में, समाज में ज्ञानीपुरुषों ने निश्चित किया हुआ है।

ज्ञानियों से यह परंपरा चली है। क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक संबंध ऐसा है कि, कोई भी प्रकार के वेदन को देखते ही देखनेवाले को ऐसा वेदन होने लगे। दुःखी देखोगे, किसी का भी दुःख देखोगे तो आपको दुःख होगा, फिर भले ही रास्ते का भिखारी हो, या रास्ते पर पीड़ित तिर्यंच प्राण हो, परंतु उसका दुःख देखकर आपको दुःख होने वाला है। फिर इसे अच्छे शब्दों में हमलोग `दया' और `करुणा' कहते हैं परंतु वास्तव में वहाँ दुःख होता है। इसी तरह किसी को हसते (देखो), प्रसन्न वातावरण हो तो इसमें आदमी खुश हो जाता हैं। कोई मर गया हो और शोक में सब रोते हो, भले ही पड़ोसी हो तो भी उसे दो आँसू आ जाएँगे यह वेदन को देखने वाले को जैसा यह वेदन देखे वैसा वेदन खुद को उत्पन्न हो जाता है। ऐसी एक वस्तुस्थिति - परिस्थिति है - वैज्ञानिक परिस्थिति है। इसलिए भगवान के अनंत स्वसंवेदन का दर्शन करने से अपने स्वसंवेदन का आविर्भाव होता है, परंतु स्वसंवेदन Visualise होना चाहिए। इतनी शर्त है। न दिखे तो ओघसंज्ञा से माथा झुका कर निकल जाएगा। मंदिर जाएगा माथा झुका कर खाना ! इस तरह ओघसंज्ञा से दर्शन नहीं करना चाहिए। इनकी अंतर्मुखताको,

इनके स्वसंवेदनरूप को, इनकी वीतरागता को Visualise करनी चाहिए, बराबर निहारना चाहिए। विचार करना एक बात है और निहारना अलग बात है। विचार परोक्ष पदार्थ का होता है, निहारना प्रत्यक्ष का होता है। दोनों के बीच यह फ़र्क है।

`आनंदघनजी' ने गाया न ? `निरखत तृप्ति न होय, विमलजिन दीठा लोयण आज' `शांत सुधारस झीलती' (अर्थात्) भगवान की मुखाकृति में - भगवान की मुखमुद्रा में अमृतमयी शांति, अनंत शांति प्रत्यक्ष है और इसे निरखते हुए - इसे देखते हुए `आनंदघनजी' कहते हैं, मुझे तृप्ति नहीं होती। समवसरण में तो ऐसी ही परिस्थिति है।

समवसरण में साक्षात् तीर्थंकर बिराजमान होते हैं और इन्द्रिय ज्ञान में भी इनका रूप प्रत्यक्ष होने के कारण पारदर्शक है। इनका जो शरीर है यह तब पारदर्शक हो जाता है, रंग चाहे जो हो - लाल होता है, सोने जैसा सुनहरा रंग होता है, श्यामा भी होता है, नीलरंगी भी होता है, पीला यानी सुनहरा जैसा भी होता है परंतु पारदर्शक होता है।

श्रोता :- भगवान का शरीर पारदर्शक होता है ?

समाधान :- हाँ, पारदर्शक होता है। शरीर पारदर्शक हो जाता है। यानी अपने जो औदारिक जाति के परमाणु हैं जिसमें खून, मांस आदि हैं यह मनुष्य शरीर के केवलज्ञान होने पर परम औदारिक परमाणु हो जाते हैं। इनकी जाति बदल जाती है और शरीर एकदम पारदर्शक स्फटिक की तरह हो जाता है। आत्मा भी निर्मल हुआ और यह आत्मा के साथ रहने वाले परमाणु भी निर्मल हुए।

श्रोता :- `महावीर स्वामी' तीस वर्ष जो केवलज्ञान सहित विचरे उस वक्त ऐसा शरीर था ?

समाधान :- हाँ, पारदर्शक (था) और `ऋषभदेव भगवान' एक लाख पूर्व, तिरासी लाख पूर्व छद्मस्थ अवस्था में (रहे) चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य था और एक लाख पूर्व केवलज्ञान अवस्था में विचरे (तभी भी) ऐसा ही शरीर था।

श्रोता :- पूर्व यानी वर्ष होता है ?

समाधान :- नहीं, पूर्व यानी इसके अंदर अरबों वर्ष हैं ! कितने ? करोड़ों वर्ष नहीं, इसके अंदर अरबों वर्ष हैं। बहुत बड़ा आयुष्य है। उस जमाने में बहुत बड़ा आयुष्य होता था। फिर आयुष्य घटता गया, ऊँचाई भी घटती गई। उनकी ऊँचाई पाँचसौ धनुष की थी, `भगवान महावीरस्वामी' की सात हाथ थी। उनका आयुष्य बहत्तर वर्ष का था। (`ऋषभदेव भगववान' का) आयुष्य चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य था।

श्रोता :- गिन नहीं सकें।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यह जैन गणित में है, लौकिक गणित में यह पूर्व नहीं है, जैन गणित में है। जैन गणित है यह लौकिक गणित के मुकाबले में Advanced है और इतना ही नहीं Beyond mathematics भी इसके अंदर Figures हैं - असंख्यात के कितने ही प्रकार हैं। यह पूर्व और सागरोपम तक तो सब संख्यात चलता है, फिर असंख्यात के प्रकार हैं, फिर अनंतता के प्रकार हैं। यह सब Infinite हैं ! यह विषय लौकिक गणित में कहाँ भी नहीं है। Beyond mathematics सब गिनती हैं।

श्रोता :- `ऋषभदेव भगवान' तीर्थंकर हुए इनके वक्त में उसी काल में दूसरे तीर्थंकर होते हैं ?

समाधान :- तीर्थंकर नहीं होते परंतु केवलज्ञानी होते हैं। हमारे भरतक्षेत्र में एक सर्पिणी काल में तीर्थंकर चौबीस से ज्यादा नहीं

होते फिर अवसर्पिणी हो कि उत्सर्पिणी हो। एक सर्पिणी काल में छः आरा हैं इसमें चतुर्थ आरे में (ही तीर्थंकर होते हैं)। पहले, दूसरे, तीसरे में नहीं होते, पाँचवें, छट्ठे में नहीं होते, सिर्फ चौथा आरा है यह बहुत बड़ा है इसीलिए इसे सर्प की उपमा दी है। सर्प बीच में से मोटा होता है, आगे-पीछे पतला होता है। इसलिए इसके वर्ष कम हैं - पहले, दूसरे, तीसरे के वर्ष कम हैं, पाँचवे-छट्ठे के इक्कीस हज़ार वर्ष हैं और चौथे आरे के कोड़ाकोड़ी सागर जितने वर्ष हैं। इसके अंदर चौबीस तीर्थंकर होते हैं। फिर उनका निर्वाण होने के बाद कितना काल निकलने के बाद तीसरे तीर्थंकर होते हैं। परंतु एक तीर्थंकर की दिव्यध्वनि के निमित्त से लाखों केवली होते हैं, केवलज्ञानी लाखो हो जाते हैं। इसकी कोई बाधा नहीं। जब महाविदेह क्षेत्र में एक साथ कम से कम बीस तीर्थंकर होते हैं और ज्यादा से ज्यादा एक साथ १६० तीर्थंकर होते हैं। वहाँ एक साथ जरूर होते हैं। इसी तरह एक क्षेत्र में भी अनंत तीर्थंकर होते हैं (और) इस क्षेत्र में भी अनंत तीर्थंकर अनंती चौबीसी में हो गए। इनका शरीर पारदर्शक होता है, आत्मा निर्मल हुआ तो ये परमाणु भी शांतरस धारण करते हैं।

आत्माने परम शांति धारण की तो सब शांतरस के परमाणु इस शरीर में आकर उसी समय (बस गए)। जगत के वही शांत रस के परमाणु जैसे वहाँ इकट्ठे हो गए हो ! इतनी शांति इनकी मुखमुद्रा... मुखमुद्रा क्या अंग-अंग में शांति दिखाई देती है !! इतनी शांति, इनकी निर्दोषता !! क्योंकि आत्मा परिपूर्ण पवित्र निर्दोष हो गया। यह सब गुण इनके शरीर में भी परमाणुओं द्वारा भी व्यक्त होते हैं।

जैसे कोई आदमी गुस्सा हो तो उसकी आँख फिर जाती है,

उसके होठ फिर जाए, उसकी नाक लाल-लाल हो जाए। भाव अनुसार परमाणु में फ़र्क पड़ता है कि नहीं ? हँसे, खुश हो तो तद्अनुसार उसकी मुखमुद्रा होती है। एकदम शोकातुर हो, रोए तो उसके अनुरूप उसकी मुखमुद्रा होगी। इसी तरह तीर्थंकर देव के वीतराग सर्वज्ञ के शरीर में मुखमुद्रा में बहुत से फेरफार होते हैं। सारे शरीर में भी इस तरह के फेरफार होते हैं परंतु मुखमुद्रा है यह आत्मा के भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए विशेष से विशेषतर भावों का प्रदर्शन वहाँ होता है। दूसरे अंग में कम होता है, उस अंग में सबसे ज्यादा होता है।

अपना तो विषय यह चलता था कि, स्वसंवेदन का विषय पूर्ण शुद्ध आत्मा है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप जो पूरा का पूरा हैं यह स्वसंवेदन का विषय है और इस स्वसंवेदन की डिग्री गुणस्थान अनुसार है। केवलज्ञान होने पर - पूर्ण शुद्ध होने पर अनंत स्वसंवेदन व्यक्त होता है। यह स्वसंवेदन स्वरूपग्राहकज्ञान है उससे वे - ज्ञानी परम जाग्रति से अपने स्वरूप का अनुभव करते हैं और अनुभव का विषय शाश्वत होने से खुद शाश्वत हैं ऐसा अनुभव होने के कारण ज्ञानी सदा ही निर्भय हैं कि, मुझे तो कुछ होने वाला नहीं। सारी दुनिया उथल-पुथल हो जाए तो भी मुझे कुछ नहीं होने वाला।

स्वरूप ज्ञान का पहला फायदा भय प्रकृति का नाश है। ज्ञानी की Dictionary में - शब्द कोष में `भय' शब्द के ऊपर चौकड़ी लग जाती है। इनकी Dictionary में भय नहीं होता। भय को वे कुछ समझते नहीं। भय फिर क्या ? भय यानी क्या ? जीवकी कल्पना है, जगत में भय जैसा कुछ है ही नहीं। किसका भय ? किसी तरह का कोई नुकसान नहीं, आत्मा को कोई स्पर्श नहीं कर सकता। अरे...! दूसरा कोई देख भी नहीं सकता ! जो लोग

किसी दूसरे का नुकसान करना चाहते हैं वह इसकी आत्मा को कहाँ देख सकते हैं ? जिसको देखते हैं वह आत्मा नहीं, आत्मा को कोई नहीं देख सकता, स्पर्श नहीं कर सकता फिर भय किस बात का है ? किस बात का भय है ? केवल कल्पना सिवाय इसमें दूसरा कुछ नहीं है।

श्रोता :- भाईश्री ! ज्ञानी के शरण में आने वाले को भय चला जाता है तो ज्ञानी को भय कहाँ से हो ?!

पूज्य भाईश्री :- ठीक बात है। ज्ञानी के शरण में जो सचमुच आ जाते हैं उनका भय चला जाता है, यह बात भी ठीक है। इसी तरह मुनिराज के शरण में, भगवान के शरण में जो चले जाते हैं उनका भय चला जाता है। यह तो संसार में भी समर्थ पुरुष के आश्रय में रहनेवाले को कितने ही प्रकार के भय नहीं होते। ऐसा होता है कि नहीं ?

`ज्ञानी सदैव निर्भय है। इसी स्वरूप के लक्ष्य से सर्व जीवों के प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है।` जैसे ही स्वरूप का लक्ष्य हुआ यानी स्वरूप की पहचान हुई कि, सभी जीवों के प्रति साम्यभाव आ जाता है। मेरे जैसे ही सभी जीव हैं। एक ही जाति के हैं, किसी में कुछ फ़र्क नहीं है। कोई ऊँचा नहीं - कोई नीचा, कोई बड़ा नहीं - कोई छोटा नहीं। ऊँच-नीच का भेद, छोटे-बड़े का भेद, मान-अपमान के सभी भेद खलास ! सब एक सरीखी जाति के हैं (ऐसा) सामान्यभाव उत्पन्न होता है। लो, यह सच्चा `साम्यवाद` तो यहाँ जैन दर्शन में है !

`रशिया` में `साम्यवाद` उत्पन्न हुआ वह अधूरा रह गया। क्यों ? (क्योंकि) `केमलीन` की कुर्सी के ऊपर बैठने वाले और इनकी Factory में साधारण मजदूर काम करने वाले, दोनों की हालत एक सरीखी

नहीं होती। एक तो सायकिल भी नहीं मिलती और एक Air-conditioned latest गाड़ी में घूमता है। वहाँ कहाँ साम्यता आती है ? और साम्यता सब तरह, किस तरह आ सकती है ? क्योंकि सबका पुण्य-पाप एक सरीखा नहीं होता। जीव तो पुण्य-पाप को भोगते हैं। किसी का चेहरा एक सरीखा नहीं होता, किसी की तंदुरस्ती एक सरीखी नहीं होती, किसी का परिवार एकसरका नहीं होता। साम्यता किस तरह लाए ? हाथ की बाज़ी कहाँ है ? कोई चेहरे को बदल सकता है ? क्या तंदुरस्ती में फ़र्क कर सकेगा ? क्या परिवार में सब एक सरीखा कर देगा ? कि इनको दो लड़के, इनको दो ही चाहिए... इनको दो ही होने चाहिए... इनको तीसरा नहीं होना चाहिए, यह बाँझ न रहना चाहिए, ऐसा कुछ चलता है ? ऐसा साम्य वहाँ किसी तरह हो नहीं सकता। कल्पना मात्र साम्य है।

श्रोता :- सिद्ध शिला में साम्य है ?!

पूज्य भाईश्री :- सिद्धिशिला में साम्य है और स्वरूप दृष्टि में साम्यवाद है। कहाँ है ? स्वरूप दृष्टि में साम्यवाद है। यह सब मेरे जैसे ही आत्मा हैं। मैं किसके प्रति हर्ष-शोक करूँ ? मुझे किसके प्रति ऊँचा-नीचा की कल्पना करनी ? किसके प्रति अच्छे बुरे की कल्पना करनी ? सभी मेरी जाति के हैं।

`कृपालुदेव' ने `बहु पुण्य केरा पुंजमें...' गाया - `सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो' सबको एक सरीखा देखो। और एक सरीखे हैं इसलिए एक सरीखा देखना है। जाति से सरीखे हैं इसलिए सरीखा देखो। स्वभाव जाति से देखने का अभ्यास करो। वर्तमान अवस्था के विध-विधता गौण हो जाए। हरएक की वर्तमान अवस्था में फ़र्क है - किसी में गुण प्रगट है, किसी में

अवगुण प्रगट है इसमें बहुत से फेरफार हैं परंतु यह गौण रखने जैसी बात है। यह मुख्य करने जैसी बात नहीं है।

`**इसी स्वरूप के लक्ष्य से सर्व जीवों के प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है।**' यानी किसी के प्रति राग-द्वेष करने का कारण नहीं दिखता। किसी के प्रति राग या द्वेष करने का कारण नहीं दिखता।

`**सर्व परद्रव्य से वृत्ति को व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश समाधि को पाता है।**' सभी परद्रव्य से वृत्ति उठाकर। व्यावृत्त करके यानी उठाकर, वृत्ति को वहाँ से समेटकर, खींचकर। क्यों ? (क्योंकि) कोई भी परद्रव्य से मुझे लाभ-नुकसान नहीं है तो यह परद्रव्य के प्रति वृत्ति रखने का क्या कारण ? या तो राग होता है, या तो द्वेष होता है और इसके पीछे लाभ या नुकसान का अभिप्राय होता है। यदि लाभ भी नहीं और नुकसान भी नहीं हो राग भी नहीं और द्वेष भी नहीं। किसी के प्रति वृत्ति ले जाने का कोई कारण नहीं रहता।

`**सर्व परद्रव्य से वृत्ति को व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश...**' यानी क्लेश बिना की शांति `**समाधि को पाता है।**' समाधिदशा यानी वीतराग दशा। स्वरूप में स्थित ऐसी वीतरागदशा को प्राप्त करता है। परद्रव्यमें से वृत्ति छूट जाती है (और) स्वद्रव्य में वृत्ति स्थिर होती है। वीतरागभाव से स्थिर होकर खुद शांतदशा को प्राप्त करता है। अमृत जैसी शांति का अनुभव करता है।

श्रोता :- राग-द्वेष उत्पन्न न हो इसके लिए उदय और अपना अस्तित्व इन दोनों के बीच भिन्नता भासित होनी चाहिए ?

समाधान :- हाँ, उदय है वह कर्म प्रसंग है। इसलिए उदय कर्म का है। कर्म के परमाणु में प्रकृति का विपाक आया। यानी प्रकृतिभाव व्यक्त हुआ, उदय हुआ इसे कर्मोदय कहा जाता है।

कर्म का उदय कर्म में, कर्म का उदय कोई आत्मा में नहीं आता। परंतु जीव अपने स्वरूप को भूला है, अपने स्वरूप में अपनत्व नहीं करता अतः कर्म के उदय में अपनत्व करता है कि, `यह मेरा उदय है। मेरा बहुत अच्छा उदय है अथवा मेरा बहुत खराब उदय है।' अर्थात् रागी-द्वेषी होता है और दोनो बार दुःखी होता है। दुःख होने का मूल कारण यह है - कर्म के उदय को अपना जानना।

इस जगत में बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति को दुःख के कारण नहीं पता और सुख के कारण नहीं पता। सभी लोग इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग को दुःख का कारण मानते हैं। चाहे जिस देश का व्यक्ति हो, इष्ट वियोग और अनिष्ट संगोय - इसे दुःख का कारण मानता है। इष्ट संयोग और अनिष्ट वियोग को सुख का कारण मानता है। यानी सारा जगत भ्रांति में चलता है। जगत में बुद्धिशाली लोग नहीं है सो बात नहीं। Higher intelligent persons बहुत से बुद्धिशाली लोग (हैं)। परंतु यह बुद्धि विपरीत काम करती है। बुद्धि होना एक बात है और बुद्धि की विपरीतता या अविपरीतता होना एक अलग बात है। इसलिए बुद्धि को Mark नहीं दे सकते। उलटी चलती हो - विपरीत चलती हो तो इसे Minus mark भी देना चाहिए और सीधी चलती हो तो इसे Plus mark देना चाहिए। ऐसी बात है। सारे जगत में सुखा-दुःख के कारण के विषय में लोगों की बुद्धि विपरीत है।

जिनेश्वर देव के उपदेश में मूल बात यह है कि, कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं। इसलिए तुझे सुख-दुःख का कारण कोई पदार्थ नहीं है। किसी पदार्थमें से सुख आता है ? इस घड़ी में तीन-चार रंग है। यह लाल है, सुनैहरा है, काला है और सफेद है।

किस रंगमें से सुख आता है यह मुझे कहो ज़रा ? लाल रंगमें से सुख आता है ? काले रंगमें से सुख आता है ? सफेद रंगमें से सुख आता है ? सुनैहरे रंगमें से सुख आता है ? किस रंगमें से सुख आता है ? किस रंगमें से सुख आता है यह कहो ? एक दम Materialism की दृष्टि से यह बात है। इन चार में सुनैहरा रंग अच्छा है (ऐसा कोई कहे) तो पूछते हैं कि, इसमें सुख है ? तू भले ही इसे अच्छा कहे। इसमें सुख है कि नहीं ? द्रव्य से, गुण से या पर्याय से ? पदार्थ का स्वरूप द्रव्य, गुण, पर्याय के सिवाय दूसरा तो है नहीं।

पदार्थ, पदार्थ के गुण, पदार्थ की अवस्था - इसके द्रव्य, गुण, पर्याय में किस जगह सुख है यह कहो जरा ? ये परमाणु अभी जो सुनहरे दिखते हैं यह किसी वक्त काले नहीं दिखेंगे ? इनका रंग पलटेगा नहीं ? क्या अनादि-अनंत पीले रहने वाले हैं ? ऐसा कहा जाता है कि, सोना रंग नहीं बदलता परंतु सोने की भी भस्म कर सकते हैं। यह भी लोग खाते हैं और इसकी विष्टा होती है। (खाने के) बाद सप्त धातुमें से चाहे जो होता है। अतः सोना रंग नहीं बदलता यह स्थूल बात है। हरएक परमाणु पलटते ही हैं और इसके रूप, रस गुण - रूप, रस, गंध, स्पर्श वगैरह जो इसकी अवस्थाएँ हैं इसमें पलटाव हुआ ही करता हैं। इन सब में कई सुख नाम का गुण नहीं, सुख नाम की अवस्था नहीं और पदार्थ में भी सुख-दुःख जैसा कुछ है नहीं। ये जो परमाणु हैं इनमें कहीं सुख-दुःख जैसा इनको भी नहीं और दूसरे कोई को भी नहीं। नहीं इन्हें, नहीं दूसरे किसी को। अतः वहाँ सुख नहीं होने के कारण इसमें से सुख आए यह बात असंभव है। जहाँ सुख नहीं वहाँ से सुख आए यह बात तो असंभव है। ऐसी परिस्थिति

है। एकदम स्पष्टरूप से परिस्थिति तो ऐसी है।

जीव कल्पना करता है कि, मुझे इससे सुख है जबकि सुख नहीं होने के कारण कोई भी कल्पित सुखवाले - सुखाभास वाले पदार्थों की प्राप्ति होने के बाद किसी भी जीव को तृप्ति नहीं होती। तृप्ति हुई हो ऐसा एक जीव बता दो संसार में ? देव लोक के देव हो तो भी बता दो और कोई राजा-महाराजा - King-Lord-Emperor कोई भी बता दो। कोई नहीं। किसीको तृप्ति हुई हो ऐसा दिखने में नहीं आता। क्यों ? (क्योंकि) वहाँ से सुख मिलता ही नहीं तो तृप्ति किस तरह हो ? मिले तो तृप्ति हो ना ? पानी पीने से प्यास बुझे परंतु पानी ही न मिले तो प्यास किस तरह बुझे ? इसके जैसी बात है।

श्रोता :- `राजमलजी' ने `कलशटीका' में कहा कि, इसे जानने वालों को भी सुख नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, `राजमलजी' ने `समयसार कलश टीका' में पहले कलश में यह बात लिखी है। जगत में जो छः द्रव्य हैं इसमें खुद के सिवाय सारे संसारी जीव और दूसरे पाँच जड़ पदार्थ इनमें सुख भी नहीं और ज्ञान भी नहीं और उसे जानने के प्रयत्न से जाननेवाले को भी सुख और ज्ञान नहीं। क्योंकि बहिर्मुख भाव से जानता है। वृत्ति उस पर जाए इसमें भी सुख नहीं और इसमें भी ज्ञान नहीं, जाओ ! क्योंकि यह वृत्ति आकुलता पूर्वक उस पर जाती है। इसमें सुख भी नहीं और ज्ञान भी नहीं।

श्रोता :- बुद्धि की विपरीतता होती है इसका कारण यही है न ?

समाधान :- मूल में अभिप्राय की भूल है - Misconcept अभिप्राय की भूल है। मुमुक्षु की भूमिका उलटे अभिप्रायों को बदलकर सुलटे

अभिप्राय करने तक मर्यादित है, क्योंकि यह नींव की बात है। जब तक नींव की बात में बदलाव न हो तब तक बाकी के बदलाव सभी व्यर्थ बदलाव साबित होंगे, निष्फल बदलाव साबित होंगे। यह अभिप्राय के पाये का बदलाव किए बिना कोई शास्त्र पढ़े तो उसका ज्ञान निष्फल जाता है। क्योंकि उसने अभिप्राय नहीं बदला। कोई तप, त्याग करता है तो यह निष्फल जाता है। क्योंकि अभिप्रायों (में) बदलाव किया नहीं।

श्रोता :- उसका सत्संग भी निष्फल जाता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अभिप्राय नहीं बदले तब तक सभी साधन निष्फल जाते हैं। अभिप्राय का निमित्त-नैमित्तिक संबंध श्रद्धा के साथ है। अभिप्राय ज्ञान की पर्याय है। दो मुख्य गुण हैं - श्रद्धा और ज्ञान। (अभिप्राय का) श्रद्धा के साथ संबंध है। जैसा अभिप्राय होगा कैसी श्रद्धा होगी। जैसा अभिप्राय होगा वैसी श्रद्धा होगी। इसलिए सत्संग में समझ करके यदि अभिप्राय बदला तो सत्संग सफल हुआ और तेरी श्रद्धा भी सच्ची हो जाएगी। श्रद्धा, ज्ञान विपरीत होगा उसका आचरण कभी नहीं सुधरने वाला। ऐसे दर्शन, ज्ञान, चारित्राणि मोक्षमार्ग है।

अब, दो वचनों में - दो लाईन में सत्पुरुष को नमस्कार करते हैं। `**जिन्होंने परमसुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शांत, शुद्ध चैतन्यस्वरूप समाधि को सदा के लिए प्राप्त किया उन भगवंत को नमस्कार, और जिनका उस पद में निरंतर ध्यानरूप प्रवाह है उन सत्पुरुषों को नमस्कार।**' एक जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार किया है और जिन पद में जिनका लक्ष्य है ऐसे सत्पुरुष को भी नमस्कार किया है। कैसे हैं जिनेश्वर भगवान ? (तो कहते हैं) `**परमसुखस्वरूप...**' हैं। `**परम**' यानी अंतिम हद का अनंत सुख जिन्हें प्रगट है - प्रगट

हुआ है।

आत्मा में जैसे ज्ञान नाम का गुण है वैसे श्रद्धा नाम का गुण है ऐसे - ऐसे अनंत गुणों की शक्तियाँ हैं। गुण है वह शक्तिरूप है। कैसा स्वरूप है ? शक्तिस्वरूप है - हम जिसे Power कहते हैं। Energy-power अथवा Energy जिसे कहते हैं। Energy में तो ज्यादातर अवस्था की अभिव्यक्ति आ जाती है। ऐसे इसके अंदर Power है। ऐसे आत्मा में सुख नाम का गुण है। इस सुखगुण को देखनेवाला जो ज्ञान है यह सुख को देखकर सुख को उत्पन्न करता है। कैसे ? कि, स्वभाव कभी अधूर नहीं होता, स्वभाव कभी कम नहीं होता और स्वभाव की कभी हद नहीं होती।

जैसे कि अग्नि का अंगारा - चिनगारी छोटी दिखती है (परंतु) कितने को जला देगी कहो जरा ? पूरे `कलकत्ता' को जला दे। आग लगी हो तो जलाए कि नहीं जलाए ? एक चिनगारीमें से कहीं आग लग गई - किसी पैट्रोलपम्प ऊपर किसी रुई के गोड़ाउन में चिनगारी गिर गई, आग लग गई ज्यादा, चारों ओर सिलगने लगे। इसकी कोई Limit नहीं रहनेवाली। एक चिनगारी में इतनी शक्ति है ! और इस शक्ति को देखनेवाला चिनगारी के प्रति बेपरवाही नहीं करता। करेगा ? करेगा कोई ? नहीं करेगा। जो कपड़े की मिल होती हैं इनके जो रूई के गोड़ाउन होते हैं वहाँ बोर्ड़ लगा होता है कि, किसी भी प्रकार की अग्नि की चिनगारी आस-पास के सौ मीटर तक नहीं होनी चाहिए। कितना ? गोड़ाउन के आस-पास के एक सौ मीटर तक No naked light, कहीं भी चिनगारी नहीं गिरनी चाहिए। क्योंकि इसकी शक्ति का पता है।

ऐसे आत्मा में सुख नाम की शक्ति है। इस शक्ति में सुख कितना ? कितना सुख... कितना सुख... कि जिसकी हद नहीं

इतना सुख !! इस सुख की शांति कितनी जिसकी हद नहीं उतनी शांति !! यह बेहद सुख-शांति को जिसकी देखनेवाला ज्ञान इसमें स्थिर हो जाता है। इस तरह स्वरूप स्थिरता आती है। ज्ञानी को स्वरूपस्थिरता कैसे आती है ? उपयोग अंदर कैसे चौंट जाता है ? नहीं तो बाहर में आकर्षण के इतने सारे विविध विषय हैं कि, जिसका पार नहीं। एक चीज़ में Range कितनी ! कलर की Range देखो, एरोमेटिकस में सुगंध की Range देखो, स्वाद में कितने प्रकार का नमूना ! ताज होटल के बावरची की पगार दस हज़ार रुपिये ! ठीक ! रसोइया की ! क्यों ? कि, आप कहो इस देश की वानगी खिला देगा। इतनी विविधता है कि, जीव का उपयोग बहिर्मुखपना छोड़कर अंतर्मुख नहीं हो सकता। सुख नहीं है तो भी !

श्रोता :- यह सुख लेने जाता है।

पूज्य भाईश्री :- सुख नहीं है परंतु सुख का गलत निश्चय है इसलिए। सुख का झूठा निश्चय है इसलिए। अब सच्चा सुख दिखे तो क्या दशा हो ? उपयोग चौंटे कि नहीं चौंटे यह कहो ? इतना सुख भरा है... इथना सुख भरा है कि इसका उपयोग गहरा... गहरा... गहरा... जितना गहरा जाए उतना गहरा उतरकर कहीं पर चौंट जाए ऐसा है !! वहीं पर चौंट जाए ऐसा है। ऐसे अनंत सुखधाम को ज्ञानी ध्यान में लेते हैं। पहले ज्ञान में लेते हैं और ज्ञान आगे बढ़कर ध्यान में परिवर्तित हो जाता है। यह ज्ञान ध्यान में परिवर्तन प्राप्त करता है। इसके कारण आत्मा में अनंत सुख है।

यहाँ `कृपालुदेव' ने सर्वज्ञ भगवान को नमस्कार करने में पहला शब्द `**परमसुखस्वरूप**' लिया है। खुद नमस्कार करते हैं। कैसे भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ? कि, जो परमसुखस्वरूप को सदा

के लिए प्राप्त हुए हैं। अनंत सुख को जो सदा के लिए प्राप्त हुए हैं। एक दूसरी बात भी थोड़ी करने जैसी है।

आत्मा का जो सुख गुण है यह अक्षयपात्र है। यानी इसमें से चाहे जितना सुख भोगने में आए (तो भी) Intact इतना का इतना ही यह रहता है ! कुछ इसमें से - एक अंश - अनंतवाँ भाग भी कुछ कम नहीं होता। अब बोलते हैं यह भी कितने सुख की बात है ? यह भी कितने सुख की बात है कि, मेरा सुख कभी कम नहीं होगा !!

श्रोता :- फिर कमाने की कोई आवश्यकता नहीं ?

पूज्य भाईश्री :- कुछ नहीं, सिद्ध परमात्मा कि अरिहंत परमात्मा को कहाँ कमाने जाना पड़ता हैं ? अरे... देवलोक में भी कमाने नहीं जाना पड़ता ! यह तो यहाँ सब जंजाल है। कमाने का जंजाल तो यहाँ मनुष्य को है। तिर्यंच को नहीं, नारकी को नहीं, देव को नहीं, यहाँ यह सब जंजाल है। फिर भगवान को तो कहाँ से हो ? एक तो यह अच्छी बात है।

दूसरी अच्छी बात यह है कि, इसका Power इतना ज्यादा है... जैसे यह Remote control में Power होताा है न ? Cordless telephone है, Cordless है वहाँ बीच में कोई जोड़-संबंध नहीं है। फिर भी अमुक Area के अंदर यह काम करता है। ऐसे सुख का Power बहुत है। इसलिए ज्ञान है यह परसन्मुखता को छोड़कर स्वसन्मुख होता है कि आत्मा की अवस्था में सुख व्याप्त होने लगता है ! देखते ही ! इतना ज्यादा Power है ! इसे देखने से सुख उपजता है, सुखस्वरूप को देखने से सुख उपजता है। दूसरा कुछ करने की जरूरत नहीं, अंदर से निकालना नहीं, रखना नहीं, कुछ नहीं। क्योंकि Intact इसलिए रहता है कि, इसमें से हम कुछ

लेते तो है ही नहीं। जो सुख भोगते हैं यह सुख हम कोई इसमें से नहीं लेते। (सिर्फ) यह सुखस्वरूप है ऐसा देखते हैं कि सुख होने लगता है और वह भी सिर्फ वर्तमान में देखते ही, है यह त्रिकाली ! देखना तो वर्तमान (का होता है) भूत-भविष्य का तो विकल्प होता है, विचार होता है। क्योंकि यह तो परोक्ष काल हो गया। प्रत्यक्ष काल तो वर्तमान ही है। यानी इसे वर्तमान में देखते ही वर्तमान में सुख हो जाए। ऐसा एक Surface tension खड़ा होता है। Surface tension माने क्या ? Surface यानी ऊपर की तह। ऊपर की तह में ताकत होती है।

पानी में स्टीमर इसके ऊपर तैरती है। विज्ञान का जो Laws of floatation इसके अंदर Surface tension के कारण यह पूरी लोहे की स्टीमर ऊपर तैरती है। नहीं तो एक कील डालो तो भी नीचे डूब जाए। चबन्नी के वज़न की एक कील ड़ालो ना तो दरिया के तल पर चली जाए, ऊपर की तह पर नहीं रहेगी। जबकि आधे इंच की जिसकी Plate है, कितनी ? लोहे की Plate है, स्टीमर की सारी Body लोहे की होती है। हमारे यहाँ, `भावनगर' में कटती है ना ? वहाँ स्टीमर तोड़ने का ऐशिया का बड़ा यार्ड है। सैंकड़ों स्टीमर वहाँ आती हैं और तोड़ते हैं। इसकी Bidy लोहे की होती है। आधा इंच मोटी प्लेट होती है और हज़ारों टन इसका वज़न होता है। ऊपर लिखा होता है - इतना टन वज़न। यह पानी के ऊपर तैरती है ! पानी में ऐसी ताकत होगी तभी तो रख सके ना ? इसे ऊपर कब रख सकें ? हमें किसी आदमी को उठाना हो तो हमारे में शक्ति हो तो पकड़ सकें न ? नहीं तो बालटी उठानी हो तो भी कहाँ से उठा सकें ? पानी की Surface में इतनी ताकत है।

ऐसे आत्मा के शुद्ध स्वरूप की वर्तमान Surface में इतनी ताकत है कि इसके सामने ज्ञान देखे तो ज्ञान को केवलज्ञान प्रगट हो जाये ! और परम सुख है यह प्रगट हो जाए, जाओ ! अनंत सुख प्रगट हो जाए। इतनी इसकी वर्तमान स्थिति में (ताकत है) तो त्रिकाली की त्रिकाली शक्ति कितनी ? त्रिराशी लगा लो ! (वस्तु के) वर्तमान (को) देखते, देखनेवाले की यह हालत हो इतना जिसका Surface tension हो तो मूल चीज़ की शक्ति कितनी ? और इसकी तीनों काल की शक्ति कितनी ?

अपने सब शास्त्र वैज्ञानिक पद्धति से लिखे गए हैं। यह Surface tension को शास्त्र के अंदर `कारणशुद्धपर्याय' कहा है। `नियमसार' की पंद्रवीं गाथा में इसे `कारणशुद्धपर्याय' कहा है। ऐसा आत्मा का स्वरूप है।

ऐसा सब कहने के पीछे और बताने के पीछे ज्ञानियों का अभिप्राय है कि, तेरे स्वरूप की महिमा तो देख ! तेरा स्वरूप कितना महिमावंत है !! तू दीन-हीन होकर कहाँ घूमता है ? और इतना सुख तेरे में भरा है अब तू किसके पास सुख की भीख माँगता है यह कहो ? रोटी के परमाणु से माँगता है ? मिठाई के परमाणु से माँगता है ? रंग के परमाणु से माँगता है ? सुगंध के परमाणु से माँगता है ? स्वाद के परमाणु से (माँगता है) ? किस परमाणु से भीख माँगता है, कि जहाँ सुख नहीं ? जिन परमाणुओं में सुख की गंध भी नहीं इनसे तू सुख की अपेक्षा रखता है और सुख मिलता नहीं इसलिए तू दुःखी होता है। अब तुझे कहते हैं कि, इस तरफ देख !

तेरा स्वरूप है यह बेहद सुख से भरा है। असीम सुख है !! इतना सुख है कि जिसकी कोी बात नहीं हो सकती। भाषा की

वहाँ पहुँच नहीं। `अनंत सुखधाम है' इतना कहकर बैठे रहना पड़ता है, बाकी कहा जाए वैसा नहीं है। अनुभव कर सकें ऐसा है। कह सकें ऐसा नहीं होने पर भी निज अनुभव प्रमाण है। यानी निज अनुभव से इसे माप सकते है। वहाँ `प्रमाण' शब्द इतना बड़ा लिया है। आत्मा को अनुभव माप लेता है। अनुभव ज्ञान है यह आत्मा का माप ले लेता है कि मेरा आत्मा कितना है ! यानि ज्ञानी को जो स्वरूप महिमा है यह स्वरूपमहिमा इन्हें केवलज्ञान तक ले जाती है। इनकी स्वरूपमहिमा कभी कम नहीं होती और ज्ञानी को इस स्वरूपमहिमा के आगे दूसरे किसी की महिमा नहीं आती। इसलिए किसी के ऊपर इनकी वृत्ति टिकती नहीं (अतः) इन्हें ध्यान लगा सकते हैं। ध्यान किसे नहीं लगता ? कि, जिसका खींचाव बार है उसे ध्यान नहीं लगता। सुख के कारण यह अंदर का खींचाव शुरू हुआ।

परिणाम को खींचने का कारण सुख बनता है। परिणाम को खींचने का कारण सुख ही है, दूसरा कुछ नहीं। कहीं भी परिणाम खिँचने का कारण सुख संबंधी निश्चय है कि, यहाँ मुझे सुख है, दूसरा कुछ नहीं। फिर परद्रव्य के तरफ के खिँचाव को आसक्ति कहते हैं और स्वद्रव्य के तरफ के खिँचाव को भक्ति कहते हैं - स्वरूपभक्ति कहते हैं। एक भक्ति है और एक आसक्ति है, दूसरा कुछ नहीं। खिँचाव इसमें सुख के कारण है।

कहते हैं कि, परमसुखस्वरूप है। ऐसी दशा को जिन्होंने सदा के लिए प्राप्त किया। `**परमोत्कृष्ट शांत...**' परम और उत्कृष्ट - दो शब्द लिए हैं। अंतिम हद की शांति। बृहद अमृत जैसी शांति ! कैसी शांति ? अमृतमयी शांति ! ऐसी शुद्ध चैतन्यस्वरूप की जो समाधि है यानी स्वरूप की लीनता है इसमें से जो बाहर नहीं

निकलते। सदा के लिए प्राप्त किया है क्योंकि फिर बाहर नहीं निकलते।

हमलोग ऐसा कहते हैं ना कि, भाई, क्या करें `जोयानुं झेर छे' अथवा पता चला इसलिए राग-द्वेष हुआ, पता नहीं चलता तो राग-द्वेष नहीं होता। तो (हकीकत में) ज्ञान राग-द्वेष का कारण नहीं परंतु अपने उलटे अभिप्राय राग-द्वेष का कारण हैं। यदि ज्ञान राग-द्वेष का कारण होता तो केवलज्ञान में तो लोकालोक तीनों काल की अवस्था सहित एक साथ जानने में आती हैं (तो उन्हें) सबसे ज्यादा राग-द्वेष होता। जगत के सभी पदार्थ तीनों काल की सभी अवस्थाएँ सहित जानने पर भी वीतराग परमात्मा का केवलज्ञान उपयोग का एक अंश भी और एक समय के लिए भी बाहर नहीं निकलता। इसका क्या कारण है ? ऐसा होने का क्या कारण ? ऐसा होने का कारण आत्मा परम सुखस्वरूप और परमोत्कृष्ट शांतस्वरूप है, यह है। स्वरूप ऐसा है इसलिए। ऐसी सुख-शांति आत्मा को छोड़कर और कहीं नहीं है इसलिए। स्वभाविक है (कि) सुख हो वहाँ उपयोग खिँचा हुआ रहेगा और रहेगा ही। ऐसे भगवंत को नमस्कार है।

ऐसे निजपद में `**निरंतर ध्यानरूप प्रवाह है...**' ज्ञानी को - सत्पुरुष को निरंतर इस निजपद का लक्ष्य रहता है। लक्ष्य है यह बदलता नहीं, लक्ष्य है यह कभी नहीं बदलता। व्यापारी का पैसा कमान का लक्ष्य है यह कभी बदलता है क्या ? बताईय ? बदलता है ? माल खरीदनार Payment दे तब ? पैसा चुका दे तब भी नहीं बदलता ? नहीं बदलता माल बेचे तब पैसा लेते समय भी नहीं बदलता। पैसा लेते समय तो नहीं बदले परंतु देते समय ? तो कहते हैं, देते समय भी लक्ष्य नहीं बदलता। दोनों में लक्ष्य

Common factor है। क्योंकि लक्ष्य का प्रवाह है यह हमेशा ऐसा का ऐसा ही रहता है। यह ज्ञान का प्रवाह है। अतः ऐसे सर्वोत्कृष्ट शांतस्वरूप में निजपद में निरंतर - अंतर पड़े बिना निरंतर लक्षरूप जिसका प्रवाह है ऐसे सत्पुरुष को भी यहाँ नमस्कार किया है। भगवान को भी नमस्कार किया है और जो भगवान होने वाले हैं ऐसे सत्पुरुषों को भी नमस्कार किया है। सत्पुरुष हैं वे भविष्य के भगवान हैं इसलिए इन्हें भी नमस्कार किया है।

इतने नमस्कार करने के बाद अब आखरी पैराग्राफ में `कृपालुदेव' निज स्वरूप की आत्मभावना भाते हैं। यह विषय बहुत रोचक और रसिक विषय है। कल का एक घंटे का स्वाध्याय हमलोग आत्मभावना पर करेंगे। यहाँ तक रखते हैं।

प्रवचन - १४ दि. ०२-०३-१९९७
पत्रांक-८३३ (५)

('श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत?) पत्र-८३३ वाँ चल रहा है। आखरी पैराग्राफ। इस आखरी पैराग्राफ में आत्मभावना भाई है। आत्मस्वरूप की भावना यह मुमुक्षुता के प्रारंभ में मुनिदशा पर्यंत के सभीसाधक भाते हैं। बारह भावना भी भाते हैं और आत्मभावनाभी भाते हैं। बारह भावना भी एक प्रकार से एक न्याय से आत्मभावना ही है। कितने ही वचन तो सीधे आत्मस्वरूप को दर्शानेवाले वचन होते हैं - Direct speech Indirectly इसी बात को कहते हैं।

मुमुक्षु आत्मभावना के स्वरूप को लक्ष्य में रखकर और अपने ज्ञानवेदन को आविर्भूत करके भाये तो वह यथार्थ आत्मभावना का भाना होता है अथवा यहाँ लिखी है ऐसी जो आत्मभावना को यथार्थरूप से भानी हो तो स्वरूप को लक्ष्य में लेना और अपने ज्ञान वेदन को आविर्भूत करना। आविर्भूत करना यानी इस भाव में भावान्वित होना। तो यथार्थ प्रकार से यह भावना आत्मलाभ का कारण होती है।

प्रश्न :- भावान्वित होना यानी क्या ?

समाधान :- जैसे कि किसी को द्वेष पूर्वक कोई विचार आया

और उससे क्रोध आ गया, तो (वह) द्वेषभाव में भावान्वित हुआ। भाव की डिग्री बढ़ना। ऐसे प्रत्येक जीव के ज्ञान में ज्ञान के अंतरंग में यानी ज्ञान सामान्य में ज्ञान वेदन वेदने में आ रहा है, चालू है। परंतु वह आविर्भूत नहीं तिरोभूत है इसलिए पकड़ में नहीं आता, मालूम नहीं पड़ता, समझ में नहीं आता।

जैसे धुए में अग्नि ढक जाती है, ज्यादा धुआँ हो तो अग्नि दिखाई नहीं देती। परंतु अग्नि के बिना तो धुआँ नहीं हो सकता। ऐसे ज्ञान ज्ञानवेदन के बिना कभी नहीं होता। ज्ञानवेदन बिना ज्ञान नहीं। परंतु विशेष ज्ञेयाकरों के आविर्भाव के कारण इस सामान्य ज्ञान का ज्ञानवेदन तिरोभूत हो जाता है। ज्ञान पर्याय के परिणाम की वैज्ञानिक स्थिति ऐसी है कि ज्ञान विशेष आविर्भूत हो तब ज्ञान सामान्य तिरोभूत होता है। ज्ञान सामान्य आविर्भूत हो तब ज्ञान विशेष तिरोभूत होता है। ज्ञान विशेष यानी ज्ञेयाकार ज्ञान और ज्ञान सामान्य यानी ज्ञान का Commonfacter सामान्य यानी Common ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ...ज्ञ रूप चलता ही है।

स्फटिक के दृष्टांत से स्फटिक की पारदर्शकता यह स्फटिक की सामान्य पर्याय है और इसके अंदर अनेक प्रकार की रंगबिरंगी झाँई उत्पन्न होना वह स्फटिक की विशेष पर्याय है। विशेष सामान्य की अपेक्षा से है (और) सामान्य विशेष की अपेक्षा से है। यह तो समझ सकें ऐसी बात है। क्योंकि दोनों विशेषण अपेक्षित ही हैं। पर्याय के दोनों विशेषण अपेक्षित हैं। इसका एक छोटा-सा जोक है। `अकबर'ने एक बार `बिरबल' को कहा कि, `यहाँ एक लाइन खींची है इसे मिटाए बिना छोटी बना दो और इसमें कुछ बढ़ाए बिना इसे बड़ी बना दो।' (तो `बीरबल'ने) बगल में एक बड़ी लाईन खींची (और पूछा) अब ? तो (`अकबर' ने कहा) `छोटी है।' (फिर)

छोटी खींच दी तो कहा `अब बड़ी है।' ऐसे सामान्य विशेष के बिना नहीं (और) विशेष सामान्य के बिना नहीं।

अनेक ज्ञेयों की विशेषता जो ज्ञान में आकृति पाती है वह विशेषतावाला ज्ञान है अतः उसे ज्ञानि विशेष कहते हैं। आकृति ज्ञान में आते ही यह आकृति में भावान्वित होनेपर ज्ञानविशेष का आविर्भाव होता है। भावान्वित किस तरह होता है ? कि, यह अच्छा दिखा, यह खराब, अच्छा-खराब... अच्छा-खराब... अच्छा-खराब करके ज्ञान विशेष में भावान्वित होता है। ज्ञेय में लुब्धता-आसक्ति उत्पन्न होती है और चारित्रगुण में अनेक प्रकार के विभाव चालू हो जाते हैं।

यदि ज्ञान सामान्य में स्वरूप के लक्ष्य से आविर्भूत हो; क्योंकि स्वरूप भी सामान्य है। आत्मस्वरूप कैसा है ? अनंत गुमों का सामान्य स्वरूप वह आत्मस्वरूप है। इसके लक्ष्य से यदि सामान्य ज्ञान का आविर्भाव हो तो ज्ञान विशेष तिरोभूत होता है यानी Automatic ज्ञेय लुब्धता उत्पन्न होने का अवसर नहीं आता। यह परपदार्थों के प्रति आकर्षण और खिँचाव मिटाने की Technique है। यह Practical side है और एकदम Technical है।

यह आत्मभावना भी यदि स्वरूप के लक्ष्य से ज्ञान सामान्य अथवा स्वसंवेदन के वेदन को आविर्भूत करके भायी जाय तो यह ध्यान का कारण हो ऐसा है, एकाग्रता का कारण हो ऐसा है, स्वरूप ध्यान लगने का यह कारण है। भावना तो भावना है और यह भावना अनेक विशेषणों से भाने में आती है उस के कारण आत्मस्वरूप की अनेक विशिष्टताएँ हैं इन विशिष्टताओं पूर्वक आत्मस्वरूप को भाने में आता है अतः इस अनेकपने के साथ उस-उस प्रकार के विकल्प होते हैं। इन विकल्पों की मुख्यता नहीं होनी चाहिए परंतु लक्ष्यगत जो आत्मस्वरूप है उसकी मुख्यता रहनी

चाहिए।

जैसे के आदमी के नाम की मुख्यता नहीं आदमी की मुख्यता है। नाम चाहे जो हो सकता है। एक नाम बहुतों के हो और नाम के प्रकार अनेक हों। इसके साथ मतलब नहीं, व्यक्ति के साथ मतलब है। परिचित होता है तब तो नाम मात्र से व्यक्ति को ही लक्ष्य में लेने में आता है। नाम का Importance नहीं रहता। विचार करके देखो आप। किसी चाहे जो नाम हो, नाम लेते ही इस नाम कापूरी व्यक्ति ज्ञान में खड़ा हो जाती है। ऐसे कोई भी विशेषण से, कोई भी शब्द से यह शब्द का वाच्य है यह आत्मा है यह ज्ञान में पूरा आ जाना चाहिए। जैसे पूरी व्यक्ति ज्ञान में आती है वैसे। फिर यह शब्द भले ही एक आत्मा हो।

आत्मा यानी क्या ? कि अनंत गुणों का परस्पर आत्मीयस्वरूप, अभेद स्वरूप उसका नाम आत्मा। वह आत्मा यानी कौन ? कि, मैं खुद। इस तरह सीधा आना चाहिए, भले एक ही शब्द हो। ऐसा Undertone `आत्मा' शब्द बोलने वाले ज्ञानीपुरुष के शब्द में होता है। यह शब्द की आंतरध्वनि है - Undertone है। (सिर्फ) इतना ही बोले कि, यह आत्मा...! ऐसा कहते ही उनके ज्ञान में पूरा आत्मा खड़ा हो जाय ! और सामने यदि इस प्रकार का (पात्र) जीव हो तो उसके ज्ञान में भी खड़ा हो जाय। इस तरह कथन और श्रवण आत्मरस उत्पन्न होने के कारण बनते हैं अथवा साधक बनते हैं, आत्मरस है (यह) इसका साध्य है। ऐसे इस भावना में अनेक प्रकार से आत्मरस उत्पन्न होने का यहाँ हमारा प्रयोजन है।

आत्मभावना का विषय लेने में हमारा प्रयोजन आत्मरस को उत्पन्न करने का है। आत्मरस है यह चैतन्यरस है और भौतिक

जड़ पदार्थो के रस से विरुद्ध जाति का रस है। भौतिक पदार्थ के प्रति जीव के परिणाम में रस उपजे - उत्पन्न हो तो नियम से आकुलता हुए बिना रहे नहीं। क्योंकि यह रागरस है। आत्मरस है यह निराकुल शांतरस है, चैतन्यरस है, और इसका स्वाद अमृत जैसा है इसलिए इसे अमृतरस भी कहने में आता है।

जैसे लौकिक रीति से भी कोई ऐसा कहे कि, अमृत का एक छींटा भी यदि पीने में आए तो मृत्यु न हो। हालाँकि जगत में ऐसा कोई Liquid है नहीं, यह त मान्यता है। परंतु यह अमृत ऐसा है कि, इसका स्वाद लेने में आए तो अजरअमरपद की प्राप्ति हो जाए, परिभ्रमण मिट जाए। (अमृत की) बात तो इसके लिए ही है, फिर लोग नहीं समझे इसलिए दूसरी तरह बैठाया, नहीं समझे इसलिए दूसरी तरह लगाया। उपमा लगाते-लगाते विकृति आ जाती है। (लोग ऐसा कहते हैं कि) हिन्दमाता की जय हो ! अब माता जैसा कुछ है नहीं, यह तो जमीन ही है, दूसरा कुछ नहीं। Dress पहनाकर एक स्त्री का पुतला रख दें और कहें कि, यह अपनी हिन्दमाता ! यानी उपमा दे दी। इसके जैसा है।

असल में अमृत तो आत्मरस का स्वाद है - अनुभव है वही अमृत है और इसे पीने में आए तो जरूर परिभ्रमण का नाश होकर शाश्वत अजरअमरपद की प्राप्ति हो। ऐसा आत्मरस घुटने के लिए यह भावना है और यह एक स्वाध्याय का अंग है। स्वाध्याय है यह मात्र माथापच्ची का विषय नहीं (यानी कि) यह नहीं समझ में आया तो यह समझो और यह न समझ में आया तो यह समझो, यह समझो, वह समझो, माथापच्ची किया करें ऐसा कुछ नहीं है।

स्वाध्याय के अनेक अंग हैं, इन अनेक अंगों में से यह एक सर्वोत्कृष्ट अंग है ! आत्मभावना ! और कोई भी भूमिका का मुमुक्षु

उसे भा सकता है। नहीं तो हरएक प्रयोग उस-उस भूमिका में होता है। जैसे कि अवलोकन का प्रयोग पूर्णता के लक्ष्य के बाद होता है। भेदज्ञान का प्रयोग पूर्णता के लक्ष्य और अवलोकन के बाद होता है। इसके पहले कोई करने जाए तो सफल नहीं होता, परंतु आत्मभावना के लिए ऐसा नहीं है। आत्मभावना तो अव्यक्त रुचिवाला कोई भी जीव भा सकता है, भले उसे वेदना भी नहीं आई हो। पहला Stage भले नहीं आया हो तो भी आत्मभावना भा सकता है। ज्ञानी भी भाते हैं और मुनि भी भाते हैं। यह एक भाने वाली चीज़ है इसे हरएक को भाने की छूट है। इसलिए `कृपालुदेव' ने सूत्र लिखा कि, `आत्मभावना भावता जीव लहे केवलज्ञान रे' ऐसा विषय है। हमलोग शुरू करें।

प्रश्न :- भाईश्री ! व्यक्त रुचि और अव्यक्त रुचि माने क्या ?

समाधान :- स्वरूप के भावभासनपूर्वक स्वरूप की अत्यंत रुचि उत्पन्न हो उसे `व्यक्त रुचि' कहते हैं। यह व्यक्त रुचि इस प्रकार होती है कि, अपने स्वभाव का अभेद अनुभवरूप परिणमन में स्वरूप संबंधित विकल्प भी उन्हें अंतराय से लगते हैं। मैं ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा हूँ - ऐसा जो विकल्प, यह विकल्प भी जिसमें अंतराय है। जो रुचि (है वह) अभेद होकर रहना चाहती है।

(`सोगनीजी' ने इसका बहुत अच्छा दृष्टांत अपनी चर्चा में दिया है कि, पतंगिया है उसे दिया रुचता है। जिसमें से प्रकाश निकलता है वह दिया रुचता है और मिट्टी का जो दिया हो और मोमबत्ती या जिसकी Open flame हो - खुल्ली लो हो, यह खुल्ली लो हो तो भी पतंगिया विचार नहीं करता कि, मैं पास जाऊँगा (और) मेरा पंख जल जाएगा तो ? यह तो सीधा लौ पर झपटा मारता है और अपनी जात को स्वाहा कर देने को तैयार रहता है परंतु

वह दिये से दूर रहने को तैयार नहीं है। ऐसी आत्मा की रुचि स्वरूप के भावभासन से प्रगट हो उसे `अन्य रुचि' कहा जाता है। इसके जैसी दूसरी रुचि नहीं वह अनन्य रुचि और अन्यरूप नहीं रह सके वह अनन्य रुचि - दोनों अर्थ इसमें से निकलते हैं।

इसके पहले ऐसे आत्मस्वरूप के वाचक शब्द पढ़ने से, सुनने से या स्मरण करने से रुचे, आत्मा को सुहावंने लगे, रुचे और इस भाव में रहने का इसे मन रहा करे (कि) मैं ऐसे ही भाव में रहूँ, परंतु इसने आत्मा नहीं देखा, लक्ष्य में नहीं आया, दिखा नहीं हो इसे `अव्यक्त रुचि' कहते हैं। ज्ञान आत्मा के व्यक्तरूप से नहीं जानता फिर भी रुचता है। ऐसी कोई विशेष योग्यता रुचि के कारण भी कोई-कोई जीवों को होती है और उससे भी दर्शनमोह की मंदता होने योग्य है। मिथ्यात्व और दर्शनमोह की मंदता अनेक प्रकार के परिणामों से होती है। इसमें आत्मभावना के परिणामों का भी समावेश है।

प्रश्न :- अव्यक्त रुचि भी दर्शनमोह को घटाती है ?

समाधान :- हाँ, दर्शनमोह को मंद करती है, गालती है। पक्का ! दर्शनमोह की जो शक्ति है इसे अवश्य गालती है। कैसे ? कि, सीधा हिसाब है कि, जो आत्मस्वरूप है यह निर्मोही तत्त्व है, मोह के अभावस्वभावरूप है। इसे भाओ यानी यह भावकभाव जो है यह मोह को गालेगा, सीधी बात है। सीधा ही हिसाब है इसमें।

जैसे देव, गुरु और सत्पुरुष की भक्ति से दर्शनमोह क्यों गलता है ? (क्योंकि) ये तीनों निर्मोही आत्मा है इसलिए। यानी इन्हें पहचानकर, इनके निर्मोही स्वरूप को ज्ञान में लेकर इनके प्रति जो बहुमान आया, भक्ति आई यह मोह को गालेगी। मोह

गलेगा यानी ज्ञान में निर्मलता आएगी। ज्ञान में निर्मलता आएगी यानी प्रयोजनभूत विषय और अप्रयोजनभूत विषय का छटनी होने लगेगी। ऐसा बनेगा।

`**सर्वसे सर्वथा मैं भिन्न हूँ...**' पहली ही भावना भिन्नता की ली है। भिन्नता है यह नास्तिवाचक है, भिन्नता है यह नास्तिवाचक है। इसलिए भावना में अस्ति हमें साथ में लेनी चाहिए कि, सर्व से सर्व प्रकार से मैं ज्ञानमय... मैं सर्व से सर्व प्रकार से ज्ञानमय भिन्न हूँ। मैं ज्ञान से मय हूँ - ज्ञानमय हूँ ऐसा मैं अभिन्न हूँ। `सर्व' के अंदर दूसरे सभी पदार्थ की तुलना में शरीर - देह है वह सबसे समीप है - नज़दीक है इसलिए वहाँ आत्मा को इस भावना में सीधे लक्ष्य में लेना कि, आत्मा है यह देहरहित तत्त्व है। देह से भिन्न है और ज्ञान से अभिन्न है। ज्ञान से तन्मय है और देह से भिन्न है। यानी कि अभी देह संयोग में होने पर भी देहातीत मेरा स्वरूप है ऐसा लक्ष्य में लेना। इस भावना से देहातीतपना लक्ष्य में लेना। भले ही संयोग में देह है परंतु ज्ञानमयी तत्त्व होने के कारण ज्ञानमयपने में वेदन का आविर्भाव करके देहातीत स्वरूप लक्ष्यगत होगा। इस तरह इस भावना को भाना।

फिर से, मात्र इतने विकल्प से भावना भाना ऐसा नहीं। भावना यथार्थ प्रकार से कैसे भाने योग्य है ? अतः एक बात पर पहले हम लोग ने विचार किया कि, स्वरूप के लक्ष्य से ज्ञानवेदन को आविर्भावपूर्वक भाने योग्य ऐसी आत्मभावना। कैसी भावना है ? कि, इस प्रकार से भाने योग्य है। प्रथम भावना में ऐसा आता है कि, मैं सर्व से सर्व प्रकार से ज्ञानमय होने के कारण भिन्न हूँ और इसलिए मैं देहातीतस्वरूप हूँ। शरीर है यह ऐसे ज्ञानमय आत्मा के बगल में रहा एक खोखा है। क्या है ? एक खोखा है।

जैसे हीरे की एक डिब्बी होती है इस तरह अंदर ज्ञानमय चैतन्य हीरा है, बगल में एक खोखा है। हीरे की तो अच्छी सी डिब्बी होती है - वैल्वैट की और ऐसी कई तरह की बनती होगी। इस जीव को तो इतनी अच्छी डिब्बी भी नहीं है। फिर भी जीव को इसमें आत्मबुद्धि मिटती नहीं यह एक अनादि से इस जीव की अवस्था की विचित्रता तो जरूर है। क्या कहते हैं ?

अपने देहातीत स्वरूप को लक्ष्य में लेकर, ज्ञानमय कहते हुए ज्ञानवेदन में तन्मयता - भावान्वितपना करके सर्व से सर्व प्रकार से अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मैं भिन्न हूँ ऐसे आत्मा को भाओ, ऐसे आत्मा को भाओ।

मैं `**एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप...**' हूँ। अपने तो `कृपालुदेव' ने जहाँ-जहाँ अल्पविराम किया है वहाँ से एक-एक भावना आविर्भूत करनी है. केवल यानी क्या ? मैं एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ मतलब कि मैं एक केवल असंग शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसा लेना है। `केवल' में आत्मा का असंगपना लेना है - चैतन्य का असंगपना लेना है।

चैतन्य है इसमें ज्ञान और दर्शन दोनों समाते हैं। ज्ञान और दर्शन का निमित्त - नैमित्तिक संबंध ज्ञेयों और दृश्यो के साथ हैं। ज्ञान का संबंध ज्ञेय के साथ है और दर्शन का संबंध दृश्य के साथ है। इसके बावजूद भी चैतन्य केवल असंग ही रहता है। किसी के साथ संग प्राप्त नहीं करता, मिलता नहीं। संग प्राप्त नहीं करता माने मिलता नहीं। यह बात स्वलक्ष्य करने पर एकदम समझ में आए ऐसी है। यह बात एकदम स्वलक्षपूर्वक समझ में आए ऐसी है।

यह जीव अपना खुद का जीव (और) सभी आत्मा का, ये

जो परिभ्रमण करते संसारी आत्माएँ हैं इन सभी आत्माओं का जीव - सबका जीव बहुभाग काल कहाँ रहा है ? निगोद में रहा है। त्रसपर्याय का काल अनंतकाल के सामने बहुत ही अल्प है। दो हज़ार सागर तो Maximum है परंतु इसके पहले भी जीव निगोद में पहुँच जाता है। निगोद के अंदर प्रचुर कषायकलंक (है)। जीव के परिणाम में प्रचुर से प्रचुर कषाय अगर कहीं तो निगोद की अवस्था में है। मतलब इतनी तीव्र विपरीत परिस्थिति के बीच रहा चैतन्य, अनंत कल प्रचुर कषाय के साथ रहते हुए भी एक ही पर्याय में कषाय और एक ही पर्याय में चैतन्य, फिर भी केवल असंग रहा है। वहाँ का एक नमूना यहाँ है ? कोई स्थिति नहीं। क्यों ? कि, चैतन्य - शुद्ध चैतन्य हमेशा शुद्ध चैतन्य ही रहता है।

सोने को हज़ार वर्ष कीचज़ में रखो तो यह सोना ही रहेगा, ज़ंग नहीं लगा और चाँदी और ताँबा मिलाओ तो भी सोना, चांदी या तांबा रूप नहीं हो जाता, सोना तो सोना ही रहता है। सोना मिटकर चांदी या तांबा नहीं हो जाता। यह धातु की शुद्धता की शक्ति है। यह धातु की शुद्धत्व शक्ति है। ऐसे शुद्ध चैतन्य हमेशा - तीनों काल में शुद्ध चैतन्य रहे यह शुद्ध चैतन्य की शुद्धत्व शक्ति है जो हमेशा निर्लेप रहती है। यानी कि इसमें विशेषरूप से भाना हो तो इस तरह भाना है कि, मैं एक केवल असंग शुद्ध चैतन्य हूँ। निर्लेप शुद्ध चैतन्य हूँ और हमेशा शुद्ध रहने के कारण, नहीं मिश्रित नहीं होता इसलिए किसी के साथ कोई भी अपेक्षा का सवाल नहीं रहता। इसलिए इस भावना के साथ-साथ स्वयं को निरपेक्ष और निरालंबरूप चिंतन में लेना-भाना।

मैं निरपेक्ष-द्रव्य हूँ, निरपेक्ष चैतन्य हूँ और निरालंब चैतन्य हूँ।

किसी के आलंबन की और किसी की अपेक्षा की इस आत्मा को जरूरत नहीं है। ऐसा स्वरूप है इसे भाना।

प्रश्न :- नरक में तो कषाय होता है परंतु निगोद में कषाय किस तरह होता है ?

समाधान :- सबसे ज्यादा होता है। नारकी जीव तो संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी हैं, यह तो एकेइन्द्रिय हैं। कषाय तो ज्ञान पर आवरण करता है। क्या करता है ? कषाय ज्ञान पर आवरण करता है। आवर्ति होते... होते... होते... एकेन्द्रिय हो गया। कषाय जैसे-जैसे तीव्र हुआ ऐसे-ऐसे एकेन्द्रिय तक पहुँच गया। अब यह विषय केवलज्ञान का विषय होने के कारण मन से समझना चाहें तो शायद नहीं भी समझे परंतु Logic से समझ सकते हैं।

कषाय ज्ञान पर आवरण करता है, क्योंकि कोई व्यक्ति तो तीव्र गुस्सा आए तब उसे विवेक नहीं रहता, आपघात भी कर ले या किसी का खून भी कर दे, अपना भी खून कर दे। ऐसे कषाय ज्ञान पर आवरण करता है। यह आवरण बढ़ते... बढ़ते... बढ़ते ज्ञान नहींवत् हो जाता है - (इसे) अक्षर का अनंतवाँ भाग कहते हैं। ऐसा कषाय का बलवानपना वहाँ है और अतः एक साँस में अठारह बार वहाँ मृत्यु होने के बावजूद भी अनंत काल तक ऐसे ही जन्म-मरण हुआ करता है। जन्म-मरण हुआ ही करता है - वहीं के वहीं जन्मे और मरे। निगोद के जीव के रूप में जन्मता है, इसी पर्याय में जन्मता है... इसी पर्याय में मरता है... इसी पर्याय में जन्मता है... इसी पर्याय में मरता है। क्यों ? कि, उदय भी ऐसा ही है और उदय में जुड़ता है। मतलब निगोद के लायक नया आयुष्य बाँधता है। नया आयुष्य भी ऐसा ही बाँधता है। यही उदय, इसी में जुड़ना और यही स्थिति - ऐसे के ऐसे... ऐसे ही कितना

काल चला जाता है इसका हिसाब नहीं कर सकते इतना काल चला जाता है। इसे अनंत काल कहते हैं।

प्रश्न :- निगोद माने इस मिट्टी में अनंत जीव हैं ?

समाधान :- निगोद तो एकेन्द्रिय जीव हैं। सारे लोक में भी निगोद भरा है और मिट्टी में भी है, सब जगह है। चारों तरफ निगोद है। ठूँस-ठूँसकर निगोद के जीव भरे हैं। होता क्या है कि, जब अपनी शक्ति आवर्ति होती है तब जैसे शरीर अशक्त हो जाता है और रोग ज़ोर करता है ऐसे यहाँ भी पंचेन्द्रियमें से मन जाने पर शक्ति ज्यादा घटती है। मनोबल भी नहीं रहता। फिर चार इन्द्रिय हो जाये (माने) ज्यादा अशक्त हो गया, तीन इन्द्रिय हो जाए (तब) और भी ज्यादा अशक्त हो गया। Position deteriorate होती जाती है। जैसे शरीर में Deterioration आए तब रोग बढ़ता है और आदमी मर जाता है। इसी तरह इसमें भी जीव ठेठ निगोद तक चला जाता है।

एक बार एक चूक गया - मनुष्यपने में एक बार भी चूक गया फिर इसकी परिस्थिति में बलवानपना आना बहुत मुश्किल है। क्योंकि खुद ने परवाह नहीं की। ऐसी उज्जवल तक मिली फिर भी परवाह नहीं की तो कुदरत इसे फिर से ऐसी तक जल्दी नहीं देगी। कब मिले यह कहना मुश्किल है। इसलिए मनुष्यगति को - मनुष्य भव को उत्तम से उत्तम आत्मकल्याण करने का साधन गिना जाता है और इसे अच्छी तक गिनने में आती है।

क्या लिया (यहाँ) ? मैं एक केवल असंग शुद्ध चैतन्य हूँ अथवा निर्लेप शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। निरालंब और निरपेक्ष शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ। ऐसा मेरा स्वरूप है। यह दूसरी भावना हुई।

`**परमोत्कृष्ट, अचिंत्य सुखस्वरूप...**' यह तीसरी भावना है (इसमें)

सुख की मुख्यता है। मेरे स्वरूप में कितना सुख है ? कि, परम उत्कृष्ट है। परम और उत्कृष्ट ऐसा लिया है। परम माने इससे आगे दूसरा कोई नहीं। उत्कृष्ट माने भी इससे ज्यादा दूसरा कोई नहीं। दोनों विशेषण लगा दिए हैं। सुख की बेहदता और असीमता दिखाई है। कैसा है सुख ? चिंतन में नहीं ले सके ऐसा है। इस सुख के लिए मन का चिंतन है यह कम पड़ता है। मन है यह भी ज्ञान की एक क्षयोपशमभावरूप पर्याय है।

ज्ञानक्षयोपशमभाव से दो प्रकार से काम करता है। एक राग की आड़ में और एक राग की आड़ बिना - दो तरह से ज्ञान काम करता है। राग की आड़ में क्या होता है कि, राग का आधार लेकर वर्तन करना वही राग की आड़ है और राग होने पर भी ज्ञान सीधी अपने स्वरूप को विषय करे वह राग की आड़ बिना का ज्ञान है। ज्ञान अपने ही आपको विषय करता है। विचारज्ञान में ज्यादातर यह परिस्थिति है। अनादि से जीव को `राग वह मैं' ऐसा राग का अवलंबन है यह राग की आड़ है। स्वरूप के भावभासन में राग की आड़ बिना सीधे (अपने स्वरूप को विषय करते हैं)। अतः `कृपालुदेव' ने ७५१ (पत्र में) `स्पष्ट' शब्द लिए। स्पष्ट अनुभवांशे यानी कि वेदन को - ज्ञान खुद अपने वेदन को स्पष्टरूप से अपने स्वरूप को लक्ष्यगोचर करे इसे स्वरूप का भावभासन कहा गया है।

यहाँ जो अचिंत्य (कहा) है मतलब चिंतवन से पार माने मन से पार। क्योंकि वहाँ (चिंतवन में) राग की आड़ है। राग की आड़ में वर्तते हुए ज्ञान में स्वरूप सुख ज्ञान में नहीं आता। मन से कल्पना करे परंतु यह कल्पित स्वरूप हुआ। यह सच्चा भावभासन नहीं।

प्रश्न :- स्वरूप का अनुसंधान हो तब मन मर जाता है ?

समाधान :- हाँ, मन पहले ही मर मिटता है। `अनुभव प्रकाश' में `दीपचंदजी' कहते हैं - `मन तो पहले ही मिट जाता है।' फिर स्वरूप का अनुसंधान होता है। मतलब क्या ? कि, मन है (यह) एक इस जगह छाती में आठ पंख का कमल के आकार की परमाणु की रचना है, सूक्ष्म परमाणुओं की रचना है जो किसी भी साधन से नहीं देख सकते और देखने के लिए कोई बाह्य साधन नहीं है। माने दूरबीन या कोई सूक्ष्मदर्शक यंत्र या कोई इनसे नहीं देख सकें। ऐसे परमाणु वहाँ सूक्ष्म पर्यायरूप परिणमित है। जैसे आँख है, हम आँख का ही आकार देखते हैं उस प्रकार के पुद्गलो की रचना है। हमलोग जिसे चक्षुइन्द्रिय कहते हैं। ऐसे यह मन इन्द्रिय है।

प्रश्न :- माने जो आठ पंख की कमल जैसा कहा यह मन है ?

समाधान :- यह द्रव्यमन (है)। जैसे यह द्रव्य चक्षु (है)। द्रव्य-चक्षु द्वारा प्रवर्तता ज्ञान का क्षयोपशमभाव वह भावचक्षु। चक्षु दो प्रकार के हैं - द्रव्यचक्षु और भावचक्षु। जिसे ज्ञान के द्वारा लाल, पीला, काला, सफेद, पारदर्शकता इत्यादि अनेक प्रकार के रंग दिखाई देते हैं। पारदर्शकता भी एक रंग में ही जाती है, लोग कहते हैं ना कि, Water is colour ऐसे वहाँ भावचक्षु है। यह जो आँख की रचना है, इसमें यह पर्दा और यह पुतली और यह सब जो है इसे द्रव्यचक्षु कहते हैं। ऐसे पाँच इन्द्रिय और छट्ठा मन द्रव्यरूप भी है और भावरूप भी है। भाव है वह आत्मा का क्षयोपशमभाव है। इन्द्रिय के द्वारा प्रवर्तमान ज्ञान का क्षयोपशम भाव भावेन्द्रिय है उसका मुख हमेशा बहिर्मुख होता है - इस (बाहर

की) तरफ। मतलब यह मात्र बाह्य पदार्थ को जानता है। ऐसी ऐसी भावेन्द्रियाँ मात्र बाह्य पदार्थों को जानते में समर्थ हैं। परंतु आत्मस्वरूप कि जो अतः तत्त्वस्वरूप है इसे जानने में यह छओं प्रकार के क्षयोपशम समर्थ नहीं हैं। क्योंकि उनका मुख उलटा है।

एक पढ़े-लिखे व्यक्ति ने प्रश्न किया कि, हमारे गुरु और शास्त्र सब ऐसा कहते हैं कि, आत्मा अनंत सुख का समुद्र है। आत्मा खुद ही अनंत सुख का समुद्र है परंतु यहाँ तो सुख का छींटा भी दिखाई नहीं देता। क्या तर्क किया इसने ? इतना बड़ा समुद्र और यह भी अनंत ! सामान्य समुद्र नहीं, पैसिफिक या ऐटलाँटिक समुद्र जैसा नहीं यो तो फिर भी Limited है। अरे...! स्वयंभूरमण समुद्र भी Limited है। यह तो अनंत ! बिना तल का समुद्र (है) ! फिर भी यहाँ तो सुख का छींटा भी नहीं दिखता। तो कहते हैं कि, तू उलटा मुड़ कर खड़ा है कहाँ से दिखेगा ? समुद्र के तरफ पीठ हो और मुँह उलटी दिशा में हो तो कितना बड़ा समुद्र हो तो भी नहीं दिखेगा ? कि, चाहे जितना बड़ा हो तो भी नहीं दिखे। यहाँ भी मुँह ही फिराना है काम इतना ही है हाँ ! इतना ही काम है, करवट बदलने जितना।

ज्ञान जो बहिर्मुख वर्तता है इस ज्ञान को अंतर्मुख करो अतः अनंत सुख का समुद्र इसमें आप खुद ही निमग्न हो - डूबे हुए हो ऐसा आपको अनुभव होगा। करवट बदलने जितनी बात है। परंतु यह एक बड़ी समस्या है। अंतर्मुख होना - यह कैसे अंतर्मुख होना यह बारह अंग का रहस्य है। क्या है ? बारह अंग में कोई रहस्यभूत विषय हो - Matter हो तो अंतर्मुख कैसे होना वह है। बुद्धि की पहुच वहाँ तक है कि, जितने आत्मसाधना के परिणाम

हैं ये अंतर्मुखी परिणाम हैं। फिर इसे सम्यग्दर्शन कहो, सम्यक्ज्ञान कहो, सम्यक्चारित्र कहो, सम्यक्पुरुषार्थ कहो यह अनंत गुणों का अंतर्मुखी परिणमन है।

अंतर्मुखी परिणमन से ही लाभ है, बहिर्मुखी परिणाम से किंचित् मात्र लाभ नहीं है। अतः अंतर्मुख होना आवश्यक है, योग्य है, जरूरी है। वहाँ तक बुद्धि की पहुँच है। कैसे होना यह Practical side का विषय है - परिणमन का विषय है और यह बारह अंग का रहस्य है। यह प्रयोग वाणीगोचर नहीं होने के कारण... प्रयोग वाणीगोचर नहीं होता, क्योंकि वहाँ भाषा की पहुँच नहीं होती। अपने (अनुभव) को ही देखो ना, स्कूटर पर - Two Wheeler पर Balance रखना - इसकी परिभाषा क्या ? `अंतर्मुख होना' इतना शब्द आता है परंतु कैसे होना यह भाषा का विषय नहीं है। Balance रखना इतना भाषा का विषय है परंतु कैसे Balance रखना यह भाषा का विषय नहीं है। यह Practical side का विषय है। क्रिकेट में बैट से मारो तब गेंद को कैच करना इतना भाषा का विषय है परंतु कैसे करना यह कला का विषय है - Practice का विषय है। इसके लिए Practice करनी पड़ती है।

जितने Technical subject हैं, कला है ये सब Practical side के विषय हैं। यह भी एक ज्ञान कला है। संसार से तिरने की एक ज्ञान कला है। इसीलिए ज्ञानीपुरुषों के सत्संग का महत्त्व यहाँ खड़ा होता है। क्योंकि वे Practical side दिखा सकते हैं। कह नहीं सकते तो भी। ऐसी एक विशिष्ट परिस्थिति परम सत्संग के योग से प्राप्त होती है और वे दर्शाते हैं जिसे योग्यतावान देखते हैं तब इसे बीजज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसी एक घटना घटती है। इस घटना के कारण ज्ञानियों के प्रत्यक्ष योग का महत्त्व ग्रंथ-

ग्रंथों में गाया है इसका कारण यही है। क्योंकि शास्त्र के अंदर विषय अधूरा है। क्योंकि भाषा में आए यह तो व्याख्यात्मक है। भाषा तो व्याख्यात्मक है। व्याख्या करते हैं यह Theory है। Theory Theory है और Practical Practical है। Theory में Practical नहीं समाता।

(`सोगानीजी') व्याख्यान सुनते थे तब उन्होंने भेदज्ञान का विषय सुना। उनके जीवनपरिचय में यह बात हमने ली है। राग और ज्ञान भिन्न हैं। `राग और ज्ञान भिन्न हैं' एक वचन में पाँच शब्द हैं। उस वक्त दूसरे भी दोसौ-तीन सौ व्यक्ति, भाई-बहने सब व्याख्यान सुन रहे थे। यदि इस वचन से ज्ञान होता हो तो - तो यह दो सौ-तीन सौ व्यक्ति सबको ज्ञान हुआ होता और यह वचन गुरुदेव हज़ारो बार बोल चुके हैं। कितनी बार बोले होंगे ? उनके व्याख्यानों का मुख्य विषय ही यह था और इस विषय को खोल-खोलकर समझाया है। परंतु वे मात्र कहते नहीं थे, वे मात्र कहते नहीं थे, वे परिणमते - परिणमते कहते थे। `सोगानीजी' के निर्मल ज्ञान की योग्यता ने उनके परिणमन का दर्शन किया। क्या हुआ ? उन्होंने `गुरुदेव' की अंतर परिणति का दर्शन किया। बस यह Practical सीखने का अच्छा से अच्छा योग हुआ। बस, तथारूप योग को प्राप्त करके - इसप्रकार के कोई योग को प्राप्त करके एक क्षण भी यदि अंतर्भेद जागृति हो जाये तो उस जीव को मोक्ष विशेष दूर नहीं है। `कृपालुदेव' ने ५६९ (पत्र में) लिखा है।

ऐसी घटना प्रत्यक्ष योग के बिना तो प्ररिणति नहीं दिखे। अतः `कृपालुदेव' ने भूतकाल के ज्ञानियों के लिए तीर्थंकर तक के लिए लिख दिया कि, `प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार' जाओ ! जिनेन्द्र को भी ले लिया। भूतकाल में हुए अनंत

तीर्थंकरों का उपकार उपकार की दृष्टि से प्रत्यक्ष सद्गुरु - चौथे गुणस्थानवालें जितना नहीं है। क्रांतिकारी गाथा है ! इसलिए खुदने जब `आत्मसिद्धि' लिखी तब सबको पढ़ने को नहीं देते थे। मैं आज्ञा करूँ वही पढ़े और दूसरों को नकल भी नहीं करनी है। इतने Strict थे। क्योंकि उहापोह (चर्चा) होना, समाज के अंदर चर्चा हो जाती कि, इस तरह भगवान का अपमान करने का उनको अधिकार दिया है ? यह `रायचंद्रभाई' क्या समझते हैं अपने मन में ? (जिनेन्द्र के) बराबर नहीं, इनसे ऊँचा तो नहीं परंतु इसके बराबर भी नहीं रखा इतना इसका अर्थ कि नीचे हो गए। यह तो अपमान हो गया ! सीधी बुद्धि में सीधा सूझता है, उलटी बुद्धि में उलटा सूझता है। मतलब सीधा विरोध हो, समाज के अंदर विरोध हो। यह विरोध नहीं हो इसके लिए बात को गुप्त रखते थे।

इन्होंने २२३ (नंबर के) पत्र में ध्यान खींचा है कि, अनादि नमस्कार मंत्र में `णमो अरिहंताणं' पहले क्यों है ? `सिद्धाणं' को पीछे क्यों रखा ? ऊँचे कौन हैं ? अरिहंत या सिद्ध ? सिद्ध असंसारी हैं, अरिहंत अभी संसारी हैं क्योंकि संसार में हैं.

`बनारसीदासजी'ने यह बात की है कि, जीव के दो ही वर्ग हैं - सिद्ध और संसारी। (माने) सिद्ध के सिवाय, अरिहंत पद तक के सबको संसारी लिया है। ऐसा लिखा है। हाँ ! संसारी और सिद्ध - दो ही वर्ग हैं। यदि दो ही Class में विचार करे तो यह दो ही वर्ग हैं - सिद्ध और संसारी। तो भी `णमो अरिहंताणं' (पहले) क्यों ? सिद्ध भगवान का अपमान नहीं हो जायेगा ? तो कहते (हैं), यह उल्टी बुद्धि है। ऐसे गिनती की दृष्टि से ऐसा लगे कि, इसमें भूल क्या है ? तेरहवें गुणस्थान के बाद तो चौदहवाँ

बाकी है और चौदहवें के बाद यह सिद्धालय की स्थिति तो ऊपर की स्थिति है। इसमें गलत क्या है ? यह तो समझ में आए ऐसा सादा गणित है। तो कहते (हैं), बुद्धि उलटी है। बात जरा सूक्ष्म है। क्यों ? कि प्रत्यक्ष और परोक्ष के निमित्त-नैमित्तिक संबंध से जो लाभ होता है इसका जो रहस्य वहाँ मौजूद है यह तुझे समझने में नहीं आया।

`कृपालुदेव' ने इसका - इस बुद्धि का Class बहुत नीचे रख दिया। क्या कहा ? `अेवो लक्ष्य थया विना, उगे न आत्मविचार' यदि तुझे प्रत्यक्ष परोक्ष का यह विषय समझ में नहीं आता हो तो तुझे आत्मकल्याण का विचार भी नहीं उगा, ऐसा मैं समझता हूँ। कहाँ रख दिया इसे ? इसे आत्मकल्याण का विचार भी उगा नहीं ऐसा इसका Class है - ऐसा इसका वर्ग है। इस तरह यहाँ अपना जो विषय चलता है यह अचिंत्य का चला है।

प्रश्न :- भाईश्री ! भावेन्द्रिय जो कहा इसको आत्मा के साथ क्या Connection ?

समाधान :- भावेन्द्रिय है यह क्षयोपशम ज्ञान है। यानी कि ज्ञान का ही पर्याय है परंतु बहिर्मुखभाव है और बहिर्मुखपना यह ज्ञान का एक विभाव है, यह स्वभाव नहीं है। हमलोग इस भावना में यह विषय लेंगे कि आत्मा है उसे स्वभावदृष्टि से अवलोकन करने में ले तो आत्मा परिपूर्ण अंतर्मुखस्वभावी हैं। कैसा हैं ? परिपूर्ण अंतर्मुखस्वस्वभावी। एक अंश से भी बहिर्मुख परिणमन होता है यह आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध है। एक अनंतवें भाग जितना भई हमारी भावना में अंत में यह विषय आएगा। परंतु यहाँ जो `अचिंत्य' शब्द लिया है इसमें से एक विषय समझने योग्य है यह इतना है कि, चिंतन और मनन की कल्पना में आत्मा को कभी बाँध नहीं देना।

शास्त्र के अभ्यासी जीव कहाँ भूल करते हैं ? कि, आत्मा के स्वरूप को दिखाने वाली कई बातें उनके अभ्यास में आती हैं। वे फिर अपने मन से चिंतन करके इसका Framing करके इसका एक फोटो निकाल लेते हैं कि, ऐसा मेरा आत्मा ! यह एक भूल है। कैसे ? कि, आत्मा स्वरूप से ही अचिंत्यस्वरूपी है। इसका सुख गुण अचिंत्य है ऐसा नहीं इसका पूरा स्वरूप अचिंत्य होने के कारण इसके प्रत्येक गुण अचिंत्य हैं और सुख भी अचिंत्य है। ऐसा कहकर यहाँ सुख की Quality और सुख की डिग्री दोनों दिखाना है। परंतु मन के चिंतन में आत्मा की छबि को मढ़ने जैसा नहीं है और फिर भी यदि मढ़ ली तो भगवान उसे `गृहीतमिथ्यात्व' कहते हैं। क्या कहते हैं ? गृहीत (अर्थात्) बुद्धिपूर्वक नया ग्रहण किया हुआ, कल्पित तत्त्व उसे `गृहीतमिथ्यात्व' कहा जाता है। इसलिए `गुरुदेवश्री' हमेशा कहते थे कि, राग की आड़ बिना ज्ञान में सीधे ज्ञानस्वरूपी आत्मा का ज्ञान हो वह ज्ञान सच्चा, बाकी का ज्ञान सच्चा नहीं। यानी कि विचार आता है तब तक इस ज्ञान को कोई तुल्य नहीं देते। क्योंकि वैचारिक भूमिका में कई बातों का विचार कर सकते हैं। समझने की यह एक अलग Branch है, (यह) इन्द्रियज्ञान की Branch है और यह एक अतीन्द्रियज्ञान की Branch है। यह Branch शाखा अलग पड़ती है और आत्मा का विषय वहाँ से शुरू होता है। इसके पहले आत्मा का विषय शुरू नहीं होता।

प्रश्न :- भाईश्री ! शुरूआत में तो चिंतवन के द्वारा ही आत्मा को लक्ष्यगत करना है ना ?

समाधान :- शुरूआत में ऐसा समझने योग्य है कि, चिंतन का विषय नहीं है। चिंतन में भी ऐसा समझने जैसा है कि, यह

कोई एक अचिंत्य द्रव्य है और अचिंत्य ज्ञान का विषय है - ऐसा चिंतन में लेना। चिंतन में भी ऐसा लेना, ऐसी बात है।

प्रश्न :- आत्मा के गुणों का चिंतन किस तरह करें ?

समाधान :- इसमें क्या है कि, ज्ञान राग की आड़ में खड़ा है कि राग की आड़ हटाकर काम करता है ? इतना देखना है। क्योंकि हर एक की भूमिका तो मुमुक्षु की है और इसमें सविकल्प और विचारदशावाली स्थिति है। मुमुक्षु की निर्विकल्प स्थिति है नहीं। निर्विकल्प स्थिति में तो ज्ञानदशा प्रगट होती है। इसलिए एक तो उलझन ऐसी होने योग्य है कि, मेरे पास मन के सिवाय साधन क्या है ? समझने के लिए मेरे पास मन के सिवाय कहाँ दूसरा साधन है ? मैं क्या करूँ ? परंतु ऐसी आड़ मारने जैसी बात नहीं है।

`गुरुदेव' के व्याख्यानों में कितनी बातें बहुत असाधारण आई हैं। `राग की आड़ बिना का ज्ञान' कितनी बार व्याख्यानों में ये शब्द सुने हैं। यह राग की आड़ बिना का ज्ञान माने क्या ? जीव का चारित्रगुण रागरूप परिणमता है और जीव का ज्ञान गुण जाननेरूप परिणमता है। अनादि की परिस्थिति ऐसी है कि, `राग को मैं' (अर्थात्) राग के साथ एकत्व - एकताबुद्धि यह जीव की अनादि की स्थिति है। मुमुक्षु की भूमिका में यह एकत्वबुद्धि ढ़ीली पड़ती है, छूटती है ज्ञानदशा में। जब ढ़ीली पड़ती है; यह गाँठ - ग्रंथि है - यह दर्शनमोह की गाँठ है। यह गाँठ ढ़ीली पड़ती है तब ज्ञान में कुछ अंश में निर्मलता आती है। क्योंकि ज्ञान में ही पहली गाँठ है। मतलब यह राग की आड़में से छुट्टा पड़ता है और भावभासन के काल में ज्ञान स्वयं ज्ञान के आधार से ज्ञानस्वरूपी आत्मा का निश्चय करता है, जो अचिंत्य तत्त्व है।

इसलिए लक्ष्य-लक्षण की चर्चा में यह बात ली कि, `**ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वातः**' (अर्थात्) अकेला ज्ञान - मात्र ज्ञान। अभी `पूज्य बहेनश्री' की चर्चा की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है - `स्वानुभूतिदर्शन' इसमें यह बात ली है कि, अकेला ज्ञान। `समयसार' में `ज्ञानमात्र' शब्द है। वे स्वयं सादी भाषा में बोलते थे - अकेला ज्ञान ज्ञ... ज्ञ... ज्ञरूप सामान्य ज्ञान। इस ज्ञान को ज्ञान वेदता है और इस ज्ञान को ज्ञान जानता है इसके बीच में राग की आड़ नहीं और मन का निमित्त नहीं, तब भावभासन होता है। यह इन्द्रियातीत विषय क्या है यह सीधा समझ में आता है। क्योंकि वहाँ ज्ञान के आधार से ज्ञानस्वभाव को जाना है, राग के आधार से नहीं जाना। विचार में राग के आधार से ज्ञानस्वभाव का विचार करते हैं, चिंतन करते हैं, मनन करते हैं तब तक कल्पना में आता हैं। ज्ञान में कल्पित का विषय होता है और उसे यदि सही मान ले तो गृहीत हो जाता है।

प्रश्न :- मुमुक्षु की भूमिका में तो राग ढ़ीला पड़ता जाता है, इसकी मान्यता ढ़ीली पड़ती जाती है ?

समाधान :- हाँ, राग सो मैं - वहाँ से हटता है। इसके ऊपर बहुत अच्छा व्याख्यान तो आया है, `आत्मधर्म' का जो `शताब्दी अंक' प्रगट हुआ इसमें (`समयसार' की) १४४ गाथा के व्याख्यान में यह विषय बहुत अच्छा चला है और वहाँ तो ऐसा कहा है कि, अंशतः राग का अभाव करके ऐसा निर्णय होता है - निश्चय होता है। आत्मा का निश्चय `राग का आंशिक अभाव करके' (होता है) ऐसा लिया है। `अंशिक अभाव' माने उस वक्त कोई वीतरागता तो नहीं प्रगटी। वीतरागता बिना अभाव नहीं होता परंतु आलंबन में फ़र्क पड़ा है। `राग सो मैं' ऐसा जो आलंबन है इसके अंश में

फ़र्क पड़ा, आलंबन तो ज्ञानदशा में छूटता है परंतु अंश उसमें फ़र्क पड़ा। उसे पहचान हुई उसे दूसरा समकित हुआ, उसे बीजज्ञान हुआ, उसे अस्तित्व ग्रहण हुआ - ऐसे अलग-अलग शब्दों (का) ज्ञानियों ने प्रयोग किया है।

भावना के विषय में हम आज यहाँ अटकते हैं। भावना का शेष विषय हम कल के स्वाध्याय में लेंगे।

प्रवचन - १५ दि. ३-०३-१९९७
पत्रांक-८३३ (६)

(`श्रीमद् राजचंद्र' वचनामृत)-८३३ वाँ पत्र चल रहा है। आत्मभावना का आखिरी पैराग्राफ चल रहा है। पहले यह भावना में आया कि, मैं ज्ञानमय हूँ इसलिए सर्व से सर्व प्रकार से भिन्न हूँ, देहातीत स्वरूप हूँ। एक केवल असंग शुद्द चैतन्यस्वरूप हूँ, त्रिकाल निर्लेपस्वरूप हूँ। कोई अन्य पदार्थ के अवलंबन की या अपेक्षा की मुझे कोई परिस्थिथि नहीं है। निरालंब निरपेक्ष हूँ। कल तीसरी भावना चल रही थी कि, मैं परमोत्कृष्ट अचिंत्य सुखस्वरूप हूँ।

`मैं परमोत्कृष्ट अचिंत्य अनंत और अव्याबाध सुख स्वरूप हूँ' इतना विशेष लेना। मेरे मैं अनंत सुख भरा है इतना सारा सुख है कि जिसका चिंतन करने पर चिंतन में यह पूरा नहीं समाता इतना बेहद है ! और मेरे सुख को कोई बाधा पहुँचा सके, मेरे सुख में कोई दखल कर सके ऐसा मेरे सुख का स्वरूप नहीं है ऐसा उत्कृष्ट है !! ऐसा शक्तिशाली सुख है कि, इस सुख को कोई कम नहीं कर सकता, इस सुख का कोई नाश नहीं कर सकता। ऐसा सुखस्वरूप खुद है, इसकी आंशिक अनुभव से

प्रतीति आ जाती है। किस तरह प्रतीति आती है ? विचार से स्वीकारना, न्याय से आगम से स्वीकारना एक बात हैं और अनुभव से इशकी प्रतीति आना यह अलग बाता है। जब तक प्रतीति नहीं आती, विश्वास नहीं आता तब तक कितने ही दुःखदायक परिणाम जीव को परेशान करते हैं - जीव को दुःखी करते हैं - जीव को हैरान करते हैं। इसलिए विश्वास आना जरूरी है।

महापुरुष के वचन हैं इसलिए हम विश्वास कर ले, ऐसा नहीं। यह तो दूसरे का आधार हुआ। यह किसका आधार हुआ ?दूसरे का आधार हुआ। किसी की उधारी काम नहीं आती। अपनी मूड़ी ही अपने काम आती है। व्याज पर ली हुई मूड़ी चाहे जब भी वापस देनी पड़ती है, यह तो Loan है। अपने सुख की प्रतीति अपने में अनंत अचिंत्य अव्याबाध सुख भराा है इसका विश्वास - इसका भरोसा भावभासन के काल में आंशिक अनुभव से आता है - अनुभव के अंश से आता है। कल कितनी ही चर्चा हुई थी, हम फिरसे उसे दोहराते हैं।

हमारा जो ज्ञान प्रवर्त रहा है, अनेक ज्ञेयों को जानने में उसकी प्रवृत्ति है। इसको मुख्य करने में आकुलता है, इसे मुख्य करने में अनेक तरह की तकलीफ हैं। मुख्य करने पर चारित्र की पर्याय में राग-द्वेष होता है, अच्छा-बूरापना करने लग जाते हैं। परंतु मात्र ज्ञान है, जो सामान्य ज्ञान है, जो वेदनरूप ज्ञान है यह ज्ञान राग रहित होने के कारण - खुद ही रागरहित होने के कारण माज्ञ ज्ञान तो ज्ञान है। कषायरहित है, आकुलता रहित है अतः वह सुखरूप है। ज्ञान का रूप क्या ? कि, सुख।

जैसे कोई व्यक्ति का इसका रूप है - कोई कुरूप है, कोई सुरूप है। ऐसे ज्ञान है यह सुरूप है, बहुत सुंदर है ! ज्ञान क्यों

सुंदर है ? कि, सुख इसका रूप है, आनंद इसका रूप है, शांति इसका रूप है। सुख, शांति, आनंद जिसका रूप हो यह ज्ञान कितना सुंदर है !! बात थोड़ी नई लगे ऐसी है। असल में नए क्षेत्र में तो प्रवेश करना ही है। जिस क्षेत्र में अभी तक हमलोग हैं इससे कोई दूसरी दुनिया में तो जाना ही है और वास्तव में यह एक अलग दुनिया का विषय है।

ज्ञान है इसके रूप को, इसके स्वरूप को, इसके स्वभाव को देखने का हमलोग ने प्रयास नहीं किया। अन्य पदार्थ को देखने का प्रयास किया है। रजकणों को खूब मन भर के देखने के लिए अपनी इच्छा प्रवर्त रही है परंतु कभी इसमें किसीको तृप्ति हो यह बन नहीं सकता। सिर्फ अपने रूप को नहीं देखा। देखनेवाला ऐसा जो ज्ञान इस ज्ञान ने कभी अपना रूप - अपना स्वरूप - अपना स्वभाव यह देखा नहीं, जो ज्ञान में मौजूद है, हयात है, प्रगट है, अनुभवगोचर है और साकार है। सिर्फ हमें एक दृष्टिकोण ग्रहण करने की जरूरत है कि, मुझे ज्ञान में मेरा स्वभाव, मेरा स्वरूप देखना है।

जैसे दाल चखते वक्त नमक देखने का उद्देश धारण करें तो नमक का पता चले। उस वक्त दाल में मिर्ची डाली है, खटाई डाली है, मीठा डाला है, दूसरे छप्पन मसाले डाले हों तो भी सिर्फ नमक देखने के लिए जब ज्ञान पक्का उद्देश धारण करे, दृष्टिकोण धारण करे तब इसे जाँच लेता है। इस समय दूसरे स्वाद गौण हो जाते है। दूसरी वास्तुओं के स्वाद को इस समय परिणमते हुए रोक नहीं सकते परंतु गौण कर सकते हैं। फिर मिर्ची की जाँच करें कि, चरकी-फीकी तो नहीं ना ? मिठापन तो बराबर है ना ? खटाई भी बराबर है, एक के बाद एक सब

देख सकते हैं। फिर ऐसा लगता है कि, सब बराबर है तो अभेदरूप से एक दाल अच्छी बनी है ऐसा स्वाद भी ले सकते हैं, किसी भी तरह के स्वाद का भेद किए बिना। इस प्रकार से ज्ञान भेदात्मक और अभेदात्मक प्रवृत्ति करता है। इसमें मुख्य-गौण करता है। क्या करता है ? मुख्य-गौण करता है।

यहाँ भी अनेक ज्ञेयों को गौण करके, ज्ञेयाकारों को भी गौण करके मात्र सामान्य ज्ञान-ज्ञान का Common factor इसे ही अपने आपमें देखो। क्योंकि देखनेवाला भी ज्ञान है और देखना भी ज्ञान को ही है। अपने आप को देखने के दृष्टिकोण को साध्य करके - ऐसे दृष्टिकोण को ग्रहण करके यदि देखने में आए तो ज्ञान सुखरूप है ऐसा जरूर पता चले और Sample पर से पूरी चीज़ का ज्ञान हो जाये।

सौ व्यक्ति के लिए चावल पकाया हो तो सभी दानो की जाँच नहीं करनी पड़ती। चम्मच या झारे पर थोड़े दाने आए उसमें से एक-दो दाने को दबा लो (तो) चावल पका है कि नहीं इसका पता चल जाता है। Sample पर से पूरी चीज़ का पता चल जाता है, नाप आ सकता है। ज्ञान में ऐसा सामर्थ है - शक्ति है।

ऐसे यहाँ भी ज्ञान निराकुलरूप है इसके वेदन के अंश से अनुभव आता है इस अनुभवांश से अनंत सुख की प्रतीति होती है। मेरे में अनंत सुख भरा है इसका विश्वास आता है और जब इसकी प्रतीति होती है तब इस सुख को भोगने की, इस सुख को प्राप्त करने की जीव के पुरुषार्थ की वृत्ति उछलकर बाहर आती है। एक महिने का भूखा प्यासा व्यक्ति हो उसे मिष्टान्न भरी थाली और ठंड़ा गन्ने का रस पीने मिले तो धीरे-धीरे खायेगा पियेगा क्या झपटा मारे ! दूसरी भाषा में कहें तो वह थाली पर टूट

पडेगा। खाने की क्रिया में आक्रमण दिखेगा। दिखता है कि नहीं ? हर विषय में जिसकी-जिसकी तीव्र इच्छा हो वह मिलते ही ज़ोर से परिणाम बारह आएँगे, वेग धारण करेंगे।

इस तरह सुख के लिए इस जीव ने व्यर्थ प्रयत्न करने में कुछ बाकी नहीं रखा। चाहे जितना साहस भी किया है - पैंतिस हज़ार फुट (की ऊँचाई पर) ऐरोप्लेन में जाना। और भूख-प्यास, ठंड़ी-गरमी कुछ भी देखे बिना देश-परेदश (में भटका है)। कुछ भी देखे बिना बहुत प्रयत्न - बहुत पुरुषार्थ किया है और कहीं इसे सुख मिला नहीं। यह इसका सबूत है क्योंकि अभी भी सुख के लिए प्रयत्नवान है। ऐसे इस जीव को - अनंतकाल से सुख के लिए प्रयत्नशील ऐसे इस जीव को अनंत सुख का भंड़ार अपने में दिखे तब कितना उछाला आएगा (यह) अंदाजा लगा लेने जैसा है।

जब यह विश्वास आता है कि, मेरा अनंत सुख मेरे में है और मेरा सुख कहीं बाहर में नहीं है तब सारे आकुलता के परिणाम शांत हो जाते हैं। बाहर से सुख लेने की जो आकुलता के परिणाम हैं वह सब शांत हो जाते हैं, फिर दुःख का अवसर नहीं होता इसे कोई दुःखी नहीं कर सकता। कोई दूसरे जीव की ऐसी इच्छा हो कि मैं इसे दुःखी करूँ (परंतु) किसी की पहुँच नहीं है। मेरे सुख के भड़ार तक किसीकी पहुँच नहीं है। कोई छू सके, कोई बाधा पहुँचा सके ऐसा कुछ नहीं हो सकता। ऐसा मैं अचिंत्य अनंत अव्याबाध सुखस्वरूप हूँ, अनंत सुख का धाम हूँ।

प्रश्न :- भाईश्री ! सुख का अंश न दिखे तो ?

समाधान :- तब तक जीव को प्रतीति नहीं आती। किसीकी बात जल्दी माने ऐसा यह जीव नहीं है, अपने अनुभव से मानेगा।

यानी कि किसी और बात में विश्वास कायम नहीं रह सकता। किसी दूसरे की बात में टिक नहीं सकते। भले ही इसने चाहे जिस तरह `हाँ' भरा हो परंतु टिकना मुश्किल है। अनुभव से टिक सकता है।

अनुभव ज्ञान है इसमें शक्ति बहुत है। दस वर्ष की बचपन की उम्र में पानी में तैरना सीखा हो; हम लोग ने हमारे गाँव की नदी है वहाँ तैरना सीखा था, आज ६० वर्ष की उम्र में कोई पानी में धक्का मारकर गिरा दे तो फोरना तैरने ही लगेंगे। अचानक गिर जाए तो भी तैरने ही लगेंग, डूबेंगे नहीं। क्योंकि अनुभवज्ञान दस वर्ष की उम्र में लिया है। भले पचास वर्ष Practice नहीं की तो भी तकलीफ नहीं होती। तैरना यह एक कला है। बाहर का दिखाव तो क्या है कि, हाथ-पैर हिलाते हैं, परंतु हाथ-पैर हिलानेवाले को तैरना न आता हो तो हाथ-पैर हिलाए तो भी डूब जाए। पानी पर तैरना यह भी एक कला है। इसकी कोई भाषा नहीं है। यह तो Practice करके ही सीखा या जाता है। दूसरी तरह इसे सीखाया नहीं जाता। इसकी पुस्तकें पढ़ने से कोई तैरना नहीं सीख सकता। तैरने की पुस्तक पढ़कर कोई तैरना नहीं सीख सकता। इसे खुद को पानी में जाना पड़ता है और तैरने की Practice से तैरना पड़ता है। (इस तरह) अनुभवज्ञान में बहुत शक्ति है।

सुख और दुःख है यह अनुभव का विषय है, विचार का विषय नहीं है। सुख और दुःख यह अनुभव की पर्याय है, विचार की नहीं। फिर अनुभव को आप ज्ञान से समझो यह अलग बात है। परंतु आत्मा का सुख कैसा होता है इसका विचार करते-करते पता चले कि नहीं चले ? नहीं चले। फिर पुस्तक पढ़ने से तो कहाँ से पता चलेगा ? या व्याख्यान सुनने से कहाँ से समझ में

आएगा ? इसके लिए तो हमें अपने ज्ञान को इसके रूप से देखने का प्रयत्न करना पड़ेगा कि ज्ञान का रूप ही सुख है। ज्ञान खुद ही आनंदस्वरूपी है, ज्ञान खुद ही सुखस्वरूपी है। क्योंकि कषाय का अभावस्वभावरूप है, अभावस्वरूप है।

सुखी होने का यह बहुत अच्छा मौका है, बहुत अच्छआ मौका है। शांत चित्र से अंदर ही अंदर खोड करनी है। यदि मेरा सुख मेरे में ही भरा है ऐसा अनुभवी पुरुष कहते हैं (तो) कहनेवालों की प्रमाणिकता पर हमें विश्वास करके प्रयत्न चालू करना है, इससे ज्यादा काम नहीं है। जो चीज़ अपने में ही है वह कब तक अंजान रह सकती है ? हमारा हीरा हमारे ही हाथ से इसी जगह गिरा है फिर इसे रस्ते पर ढूँढ़ने की जरूरत नहीं होती। पता है कि, हीरा देखते-देखते यहाँ पर ही गिर गया है। फिर रस्ते पर ढूँढ़ने का तो कोई अर्थ नहीं। अच्छा है कि हीरा उजाले में गिरा है, अंधेरे में नहीं गिरा। जब कि अंधेरे में गिरा हो तो भी चमकता है।

ज्ञानप्रकाश में ज्ञानस्वभाव को देखना है। ज्ञानस्वभाव कहाँ प्रगट है ? कि, ज्ञान की पर्याय में, ज्ञान के प्रकाश में। यह भी सुविधा ही है। नहीं तो फिर बहाना मिल जाए कि, अंधेरे में कैसे मिले ? परंतु यह तो उजाले में हीरा पड़ा है। ज्ञानी कहते हैं कि, तेरे ज्ञान में ही है, कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। तेरा भगवान मंदिर में भी नहीं, मस्जिद में भी नहीं और गुरुद्वारे में भी नहीं या पुस्तक में या शास्त्र में भी नहीं है। है अपने में, खुद को शांति चित्र से इसकी अंतरखोड करनी है और सही पद्धति से; कल अपने दोपहर के स्वाध्याय में बात ली थी, इस तरह सही पद्धति से काम करने पर (उसकी प्राप्ति अवश्य होती है)। इसे

विवेक कहते हैं - सही पद्धति से काम करना इसे विवेक कहते हैं, गलत पद्धति से काम करना इसे अविवेक कहते है। विवेकपूर्वक काम करने पर आत्मज्ञान की प्राप्ति अवश्य, अवश्य हो जाए ऐसा है कि, आत्मा अनंत ज्ञानस्वरूप है और आत्मा आनंस्वरूप है।

ऐसे अनंत सुख का निधान अपने में ही है। आगे चौथी भावना में ऐसा लेना है कि, `**एकांत शुद्ध अनुभवरूप मैं हूँ...**' यानी अनुभूति स्वरूप हूँ। किसका अनुभव है ? कि, ज्ञान को ज्ञान का अनुभव है। ज्ञान को सुख इत्यादि का अनुभव है। ज्ञान खुद ही स्वसंवेदनस्वरूप है। जो ज्ञान सामान्य है वह खुद ही स्वसंवेदनस्वरूप है। वेदन कहो, अनुभव कहो दोनों एक ही बात है। माने ज्ञान खुद अनुभवस्वरूप है। अनुभव उत्पन्न करने की चीज़ नहीं है। अनुभव हर क्षण, हर समय ज्ञान में ही रहा है - उत्पन्न हो ही रहा है। ज्ञान की पर्याय अनुभूति के साथ उत्पन्न होती है और वह हो ही रही है।

मैं एकांत - वहाँ एकांत क्यों लिया है ? (क्योंकि) इस ज्ञान के अंदर - ज्ञान वेदन के अंदर किसी का भी प्रवेश होनेका अवकाश नहीं है - खाली जगह नहीं है। ऐसा ज्ञान खुद घनिष्ट तत्त्व है। इसीलिए आत्मा को ज्ञानघन भी कहा जाता है, चैतन्यघन भी कहा जाता है। इसमें दूसरे किसी का प्रवेश नहीं। निगोद से लेकर सिद्ध तक की सारी ही आवस्थाओं में - एक जीव की निगोद अवस्था से लेकर ऊपर... ऊपर... ऊपर जाते सिद्ध तक - दोनों अवस्था के Extreme point हैं। एक दुःख की और एक सुख की अवस्था है। एक गुणों की आवरणयुक्त अवस्था है और एक सारे गुणों की प्रगट, विकसित अवस्था है। इससे आगे इसका अंत नहीं है। सबसे आखरी हद की हीन अवस्था निगोद है और विकास

पाई हुई अवस्था सिद्धपद है। इन सभी अवस्थाओं में ज्ञान ज्ञान को वेद रहा है। ऐसा एकांत है, ऐसा यहाँ कहना है। `कृपालुदेव' ने `एकांत' शब्द लिया है ना ? ऐसा एकांत है। दूसरे किसी का अंदर मिश्रण - Adultration नहीं होने के कारण शुद्ध है।

एकांत शुद्ध अनुभवस्वरूप हूँ - वेदनस्वरूप हूँ। मेरे वेदन में किसी का प्रवेश होनेका अवकाश नहीं है। राग की आड़ में, ज्ञेयों की मुख्यता में यह वेदन मुझे मालूम नहीं पड़ता इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वह है नहीं `है' (तू) आड़ को (परदे को) दूर कर। `तरणा ओथे डूंगर' (गुजराती कहावत) एक तिनके की आड़ में पहाड़ भी नहीं दिखे इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि, इतना बड़ा पहाड़ है ही नहीं। पहाड़ जितना (है) उतना ही है परंतु दृष्टि में यदि एक तिनका भी बीच में आए तो नहीं दिखे। ऐसे यह राग और ज्ञेय जिनके ऊपर से ज्ञान की मुख्यता नहीं हटती ये सब तिनके हैं। कैसे हैं ? खाली तिनके हैं। इसमें ऐसी कोई बात नहीं है कि हटाया नहीं जा सके। ऐसी कोई बात नहीं है। राग को भी हटाया जा सकता है, ज्ञेयाकार ज्ञान को भी गौण कर सकते हैं, यदि अपने स्वरूप को हम देखना चाहें - इच्छा करें तो यह ज्ञानवेदन मालूम पड़ सकता है। ऐसा यह आत्मा अनुभूति स्वरूप ही है। अनुभव को कहीं लेने जाने की जरूरत नहीं है। `है' यह किसी एक कारण से तिरोभूत है, छूपा हुआ है अथवा तिरोभूत को आच्छादित हो गया है, ढक गया है ऐसा कह सकते हैं. राग और ज्ञेयों की आड़ में ढका हुआ - आच्छादित हुआ ज्ञान वेदन है इसे आविर्भूत करना है और एक आविर्भूत करने की जो पद्धति है इस पद्धति से आविर्भूत होता है। हमें क्रम से आगे बढ़ना चाहिए।

ऐसा मैं एकांत शुद्ध अनुभूतिस्वरूप हूँ - स्वसंवेदनस्वरूप हूँ, `**वहाँ विक्षेप क्यों ?**' किस बात की अब तुझे दखल है ऐसा कहो ? जब तक डॉकटर को दर्द बताया न जाए तब तक डॉकटर इसका इलाज - उस मरीज़ का इलाज करे किस तरह ? तुझे किस बात की तकलीफ है यह कहो ? क्या विक्षेप है ? ऐसा कहते हैं। जब तेरा स्वरूप ऐसा सुखस्वरूप है, अनुभूतिस्वरूप है, ज्ञानमयी है, असंग तत्त्व है अब तुझे विक्षेप किसका है ? निर्लेपस्वरूपी है, निरालंब निरपेक्षस्वरूपी है (फिर) किसका विक्षेप है।

`**वहाँ विक्षेप क्या ? विकल्प क्या ?**' शंका की गुन्जाइश नहीं है। ऐसा ठोस स्वरूप है जिसमें शंका की गुन्जाइश नहीं है। `**वहाँ विक्षेप क्या ? विकल्प क्या ? भय क्या ?**' शाश्वत अव्याबाधस्वरूप, शाश्वत अव्याबाध अनंत सुखस्वरूप इन्हें भय किसका ? जैसे किसीने कवच पहना हो तो फिर उसे पिस्तौल की गोली का भय नहीं लगता। बुलैटप्रूफ पहनते हैं ना ? इसमें भी अमुक जगह खाली रखनी पड़ती है। नहीं तो पौइन्ट ब्लोंक वाले तो कवच वाले को भी मार सकता है। यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो ऐसा चैतन्यवज्र है, खुद ही अभेद्यस्वरूप है कि इसे कोई नहीं छेद सकता। इतनी बात तो `गीता' में भी की है। भेद नहीं कर सकते, जला नहीं सकते, छेद नहीं सकते, गीला नहीं कर सकते, सुखा नहीं सकते, इसे कुछ नहीं कर सकते। ऐसा वज्र जैसा ज्ञानशरीरी, चैतन्यशरीरी खुद ही तत्त्व है। इसे फिर भय क्या ? किस बात का भय ?

Accident से या Operation करके शरीर के किसी अंग को काट लिया जाता है। काट कर अलग रख दिया जाता है। Heart भी आपको काट कर अलग दिखाएंगे। इससे तो ज्यादा कीमती अंग दूसरा कोई नहीं। (ऐसे) कहेंगे, देखो ! यह आपका Heart !

अभी काटकर एक तरफ टेबल पर रखा है, देख लो ! तो भी आत्मा के कोई प्रदेश को अलग नहीं कर सकते। शरीर एकदम सुन पड़ जाए और मृत्यु घोषित कर दे डॉकटर ऐसा कहे कि, अब यह Dead body है तो भी आत्मा मरता नहीं या इसमें कोई प्रदेश Dead नहीं होता, कोई गुण Dead नहीं होता। फिर भय किस बात का ? भय किसका ? किसका भय है इस जीव को ? ज्ञानी की Dictionary में 'भय' नाम का शब्द नहीं होता।

प्रश्न :- पैर अलग हो जाये फिर इसमें जो जीव की छटपटाहट होती है यह क्या फिर इसमें चली जाय ?

समाधान :- हाँ, ऐसा है। थोड़ी देर इस जीव के प्रदेश वहाँ से नहीं हटते, ऐसा होता है तो क्वचित इसमें चेतन दिखे भी, यह थोड़े ही क्षणों के लिए रह सकता है, लम्बे समय के लिए नहीं रह सकता।

प्रश्न :- यह फिर द्रव्य में चला जाता है ?

समाधान :- हाँ, यह तो खींचा हुआ ही है। यह वहाँ कटा हुआ नहीं है। (सिर्फ) खींचा हुआ Expand हुआ है। जैसे रबर Expand होता है इसी तरह आत्मा के प्रदेश Expand होते हैं। बड़े शरीर वालों का आत्मा का नाप बड़ा नहीं होता। चींटी और हाथी का क्षेत्र एक जैसा ही है। परंतु चींटी में प्रदेश सिकुड़ गए हैं, और हाथी में पैल हुए हैं। आत्मा तो जैसा असंख्यप्रदेशी है वैसा ही है। रबर को खींचो तो इसमें कुछ बढ़ जाता है क्या ? और यह सिंकुड़े तब इसमें कुछ घट नहीं जाता। इसके परमाणु इतने के इतने ही रहते हैं और वजन भी इतना का इतना रहता है। ऐसे आत्मा के प्रदेशों में संकोच विस्तार होने की शक्ति है। इसे संकोचविकास नाम की शक्ति बताई है। शास्त्र के अंदर यह शक्ति

बताई है।

`समयसार' में ४७ शक्तियाँ हैं इनमें इस शक्ति का नाम है (`नियतप्रदेसत्वशक्ति')। (इस शक्ति के कारण आत्मप्रदेशों का) विस्तार भी होता है और संकोच भी होता है। Maximum विसातर कितना होता है ? चौदह ब्रह्मांड जितना। अपने यहाँ इसे केवलीसमुद्घात कहते हैं। कोई केवलज्ञानी आत्मा के केवलज्ञान होने के बाद कितने ही ऐसे कर्म होते हैं कि जो अभी भोगने बाकी हो, जिनकी स्थिति अभी पकी न हो, ये स्थिति पकने के लिए इसके प्रदेश Expand हो, समुद्घात हो, सारे लोक में फैल जाए तब ये कर्म भोगकर इसकी स्थिति होकर खिर जाते हैं - निर्जरा हो जाता है। तो ज्यादा से ज्यादा Expansion कितना होता है ? कि, चौदाह राजलोक जितना होता है। शरीर इतना का इतना रहता है, प्रदेश शरीर के बाहर जाते हैं। इसमें भी शरीर के बाहर ही जाता है ना। शरीर यहाँ से कट गया (परंतु) प्रदेश बाहर होते हैं। एक प्रदेश को भी अलग नहीं कर सकते, इसे घायल नहीं कर सकते, इसे क्षतियुक्त नहीं कर सकते ऐसा अव्याबाध स्वरूप है। फिर भय किसा ? ऐसा कहते हैं।

भय है यह इस जीव की झूठी कल्पना के सिवाय दूसरा कुछ नहीं है - नंबर एक। नंबर दो में - भय क्यों होता है ? कहाँ होता है ? कि जहाँ ममत्व हो वहाँ होता है। जो अपना पदार्थ नहीं है, अपने स्वरूपरूप नहीं है, अपने में नहीं है ऐसे पदार्थ में अपनत्व भय के कारण उत्पन्न होता है कि, यह चीज़ रहेगी या नहीं रहेगी ? कारण क्या है कि, अनित्य है इसका इसे खयाल नहीं है। यह संयोग हैं वे सभी अनित्य हैं और एक झटके में छूट जाने वाले हैं यह बात भी नक्की और निश्चित है।

थोड़ा छोड़ना भी नहीं पसंद है, थोड़ा-थोड़ा छोड़ना भी नहीं पसंद है। आपको कोई ऐसा कहे कि, यह जो आपकी लाख (रुपये की) मूड़ी है (इसमें) आज दस हज़ार का नुकसान, कल दूसरे `बीस हज़ार का नुकसान, परसों तीसरे तीस हज़ार का नुकसान और चौथे दिन बाकी के चालिस के चालिस हज़ार का नुकसान तो चार दिन में एक लाख रुपये की मूड़ी साफ हो जाय तो इसे ऐसा लगे कि, मर गया रे... मर गया...! नब्बे हज़ार जाए वहाँ तो `मर गया' ऐसा लगे, दस हज़ार हो तो भी ! एकदम खाली हो उसे दस हज़ार तो दस हज़ार मिले तब वह कूटने लगता है ! दस हज़ार तो दस हज़ार हैं। एक व्यक्ति दस हज़ार की मूड़ी में मर गया... मर गया... करता है और दूसरा दस हज़ार की मूड़ी में उछलने कूदने लगता है कि, जीत गया मैं जग जीत गया ! क्योंकि उसके पास एक पैसा भी नहीं था। एक कल्पना है। सुखी और दुःखी होने की (कल्पना है)। एक ही Amount में ऐसी विरुद्ध कल्पना होती है। Amount तो दस हज़ार ही है। वैसे ही भय है वह कल्पना है, वैसे दुःख है वह भी कल्पना है।

ज्ञान के कारण कभी दुःख नहीं होता, अज्ञान के कारण कभी सुख नहीं होता। ये सब अध्यात्म के सिद्धांत हैं। तो फिर एक झटके से सभी छोड़ना पड़ेगा तब, यह तो पैसे की बात हुई, कुटुंब-परिवार, शरीर सब छोड़ देना हो, जिसके ऊपर बहुत ममत्व है। ज्यादातर लोग बेशुद्ध अवस्था में मरण प्राप्त करते हैं इसका कारण यही है कि, उसे तब सबको छोड़ने का इतना ज्यादा दुःख होता है कि, इस दुःख के कारण वह बेभान हो जाता है और इसमें प्राण छूट जाते हैं और दुर्गति में चला जाता है। यह परिस्थिति होती है।

इस ज्ञान की सबसे बड़ी उपलब्धि अथवा लाभ जिसे कहा जाता है वह यह है कि, मृत्यु का भी दुःख नहीं लगे। मृत्यु का भी दुःख नहीं लगे ! ज्ञानी को तो बिलकुल नहीं लगे, परंतु इस दिशा में कुछ दो कदम चले हों तो उसे भी नहीं लगे !! यह तो अभी इस तत्त्वज्ञान की बौछार (है) तो भी दुःखी नहीं (होते) तो इसमें डूब जाए तो इसकी उपलब्धि कितनी गिननी ! है कोई इसका मूल्यांकन करने की Terminology ? बताओ कि, किस Term में इसकी बराबरी हो, इसकी कीमत कर सकें ? ऐसा विषय है, अमूल्य विषय है !!

क्या कहते हैं ? कि, `**वहाँ भय क्या ? खेद क्या ? दूसरी अवस्था क्या ?**' इसके सिवाय दूसरी कौन-सी अवस्था ? `**मैं मात्र निर्विकल्प...**' हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। क्योंकि विकल्प तो राग की अवस्था में होता है। शक्ति में विकल्प क्या ? राग पर्याय में होता है परंतु जो स्वरूप है यह तो सामर्थ्यरूप है - शक्तिरूप है। इसमें तो पर्याय ही नहीं तो फिर पर्याय का विकल्प होने का सवाल नहीं। विकल्प तो पर्याय धर्म है। (इसलिए) मैं मात्र निर्विकल्प हूँ।

`**शुद्ध, शुद्ध, प्रकृष्ट शुद्ध...**' तीन शब्द लिए हैं। शुद्ध हूँ, एकदम शुद्ध हूँ, प्रकृष्ट यानी सर्वोत्कृष्ट शुद्ध हूँ। कोई भी मलिन भाव की परछाँई भी मूल स्वरूप पर नहीं पड़ती। ऐसा मेरा त्रिकाल शुद्ध चैतन्यधातु स्वरूप है अतः मैं परम पवित्र हूँ। कोई मलिनता मेरे में नहीं है। ऐसे आत्मा को भाओ (यानी कि) ऐसे देखकर भाओ - तर्क, विचार करके नहीं। देखकर यानी कि ज्ञान को देखना। ज्ञान में ये सभी धर्म हैं। ज्ञान में कोई चीज़ मिश्रित नहीं होती, ज्ञान ज्ञान ही रहता है। एक Sample पर से सारी वस्तु उत्कृष्ट

शुद्ध है, खुद परम पवित्र है।

`**परमशांत चैतन्य हूँ।**' आत्मा को शांति चाहिए क्योंकि यह इसका स्वरूप है। कोई भी प्रवृत्ति करके या नहीं करके, चीज़ प्राप्त करके या नहीं प्राप्त करके आत्मा को शांति चाहिए। तो कहते (हैं) कि, यह तो तेरा स्वरूप है। बाह्यपदार्थो के साथ तेरी शांति-अशांति का कोई संबंध असल में नहीं है। अशांति तेरी कल्पना है और शांति है यह तेरा वास्तविक स्वरूप है। वास्तविकता के आधार से कल्पना को दूर कर - इतनी बात है। कैसा है तू? कि, परमशांत अमृतमयी शांति जिसमें है। शांत सुधामय चैतन्य है। अपना चैतन्य कैसा है ? शांत अमृतमयी चैतन्य है। ऐसे अपने ज्ञान का अवलोकन करके अपने स्वरूप को भाना।

परम शांत ऐसे कहते हुए, यह शांति भी इसके अखूट भंड़ार से है, शांति का अक्षय भंड़ार है। अपनी शांति को अपने आत्मा में अंतर्मुख होकर कोई देखने जाए कि मेरे में कितनी शांति भरी है। (कि जिसका कोई माप नहीं। इसे देखते-देखते) इस स्वरूप में ज्ञान का ठह जाना इसे ध्यान कहते हैं। ध्यान क्या है ? ध्यान मतलब एकाग्रता - Concentration ।

`तत्त्वार्थसूत्र' में `उमास्वामी'ने इसकी व्याख्या की है - `एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानम्।' कोई एक विषय में दूसरी चिंता से अटक कर एकाग्र होना उसे ध्यान कहते हैं। यह ध्यान की परिभाषा है। ध्यान कहाँ हो ? एकाग्रता कहाँ हो ? कि जहाँ प्रेम हो, आसक्ति हो वहाँ ही हो। जिसे गुण का प्रेण है उसे अपना गुणनिधान अपने में दिखता है, जिसे सुख, शांति और आनंद का प्रेम है, जिसे निर्दोषता का प्रेम है, पवित्रता का प्रेम है उसे अपने स्वरूप में ही यह गुण निधान दिखता है, एक गुण से भी हम राज़ी होते

हैं, किसी का एक गुण देखकर भी जैसे कि यह बहुत उदार है, तो भी प्रशंसा करते हैं ना कि, बहुत उदार व्यक्ति है। तू दे लाख तो कहे ले जा सवा लाख ! ऐसा उदार व्यक्ति है। (ऐसे) प्रशंसा करते हैं। एक गुण में भी यदि प्रमोद आता हो तो अंदर में अनंत दिव्य गुणों का भंड़ार आत्मा खुद है इसे देखकर कितना प्रेम आए, कितनी आसक्ति हो, इस आसक्ति को हमलोग भक्ति कहते हैं - स्वरूपभक्ति - निश्चयभक्ति ! यह एकाग्रता का कारण है। इसे ध्यान कहा जाता है।

कहते हैं कि, तु खुद ही ध्यान का ध्येय है। ध्यान का अनुसंधान किसके साथ है ? ध्येय के साथ। ध्येय स्वरूप तो तू खुद ही है। बाकी सब ध्यान हैं वे अपध्यान हैं अथवा दुर्ध्यान हैं, दुष्टध्यान हैं। स्वरूपशांति के ध्यान बिना के सभी ध्यान वे अपध्यान हैं - उलटे ध्यान हैं अथवा दुर्ध्यान हैं। ये सभी ध्यान के केन्द्रों में आत्मा को छोड़कर सब ध्यान कराते हैं। जितने अलग-अलग नाम से चलते हैं - कोई विपश्य का और कोई प्रेक्षा और कोई कुछ चलता है, परंतु इसके अंदर आत्मा के स्वरूप का ज्ञान किसी को नहीं होता। किसी न किसी तरह की कल्पना में चढ़ाते हैं और इसमें एकाग्रता का प्रयोग कराते हैं। एकाग्रता तो विषय कषाय में भी होती है। इसे भी आप ध्यान कह सकते हैं और यह आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान है ही ना ?

प्रश्न :- विधि तो पता चले ना ?

समाधान :- अरे...! आपको विधि आती ही है। जहाँ आपका Interest है, जहाँ आपने सुख का निश्चय किया है इसमें आप एकाग्र होते ही हो, नहीं होते ऐसा नहीं है। होते ही हो, भले ही वहाँ सुख नहीं है। कल्पना मात्र से भी आप एकाग्र हो जाते हो। आपको

ध्यान करना नहीं आता ऐसा कोई विषय नहीं है। ध्यान बिना का कोई जीव ही नहीं है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान (इसमें) रौद्रध्यान क्वचित्त हो (परंतु) आर्त्तध्यान सबी जीवों को चालू ही है, चालू ही है।

एक लड़का स्कूल या कौलैज से अपने पढ़ाई का जीवन पूरा करके फिर Commercial life में प्रवेश करता है, अपना भी यही भूतकाल देख लो न ! फिर देखो कैसे पैसे का ध्यान होता है ! खाते, चलते, बैड़रूम में जाए और बिस्तर पर पड़े तो भी वही। ज्यादा सुविधा के लिए टेलिफोन बगल में Sidepiece पर रखेगा ताकि सोते-सोते हलो... हलो... करने में तकलीफ न हो। चौबीस घन्टे ध्यान की मशीनरी काम करती है। ध्यान करना आपको आता है। आपने चौबीस घन्टे ध्यान किया है। कोई न कोई पदार्थ का आपने चौबीस घन्टे ध्यान किया ही है और करते ही हो। जहाँ सुख की कल्पना का निश्चय हो गया हो वहाँ।

यह तो वास्तविक अनंत सुख और शांति का भंड़ार प्रत्यक्ष अनुभवगोचर हो तो इसके लिए कोई ध्यान सीखना नहीं पड़ता यह कोई सीखने का विषय नहीं है। आपको प्रेम करना कोई सिखाता है ? सवाल ही नहीं। यह तो आत्मा का गुण है, यह आत्मा का गुण है। ज्ञान करना कोई सिखाता है ? नहीं, आत्मा के अंदर से ज्ञान आता है, पुस्तक में से नहीं आता, भाषामें से, व्याख्यानमें से ज्ञान नहीं आता। यह तो टेपरैकौर्डर भी बोलता है।

ज्ञान सबको ज्ञान के भंड़ारमें से आया ही करता है। रोक न सके इस तरह आता है। किस तरह आता है ? इसे रोक नहीं सकते। Stop नहीं कर सकते। चालू न चालू रहता है, क्योंकि अंदर अनंतानंत भरा है। निरंतर चालू रहता है, इसकी थकान नहीं

लगती। आप बहुत जानते हो तो ज्ञान में भीड़ होती कि नहीं होती। कितना कुछ अंदर समायेगा ? कि, लोकालोक इसके आगे परमाणु जितना हो जाए इतना ज्ञान विशाल है !! इतनी ज्ञान की Capacity है। केवलज्ञान में चौदह ब्रह्मांड है यह इसमें एक परमाणु जितना जानने में आता है !! अनंत आकाश परमाणु जितना जानने में आता है ! अनंत आकाश में चौदह ब्रह्मांड परमाणु जितना है और ज्ञान क आकाश में ये छओं द्रव्य आकाश सहित परमाणु जितने है !! इतनी ज्ञान की Capacity है ! इसे करने का सवाल कहाँ खड़ा होता है। आविर्भूत करो, सही तरह से इसका विकास करना यह अलग बात है और अंदर से आएगा। विकास करने पर अंदर से आएगा। बीज में बरगद (के पेड़) की शक्ति भरी है। एक बरगद का बीज राई के दाने जितना होता है इसमें माइलों तक का बरगद का पेड़ शक्तिरूप पड़ा है, इतना विस्तार पाता है ! ऐसे शक्तिरूप ज्ञान है यह व्यक्त होता है।

मैं परमोत्कृष्ट शांत सुधामय चैतन्यरूप हूँ। `**मैं निजस्वरूपमय उपयोग करता हूँ।**' मतलब सावधान होता हूँ। ऐसा जो मेरा अभेदस्वरूप है इसे अब मैं सँभालता हूँ। जैसे अभी तक भूल गया था कि मैं ऐसा हूँ। मुट्ठी में सोना हो, गहना हो फिर भी ऐसा लगे कि कहाँ खो गया ? कहीं रख दिया क्या ? मुट्ठी में है यह भूल गया हो। परंतु जैसे ही पता चला कि यह तो मेरी मुट्ठी में ही है ! कोई बताए कि, आप कहाँ खोजते हैं ? अलमारी में और खिड़की में कोजते हो परंतु आपके हाथ में तो पकड़ा हुआ है। तब एक सैकंड़ के लिए तो मुट्ठी Tight कर लेगा। मुट्ठी में होने के बावजूद भी एक सैकंड़ के लिए भी मुट्ठी Tight कर लेगा। इसका अर्थ क्या है ? कि, आप वहाँ सावधान होते

हो। ऐसे स्वरूप तो आप खुद ही हो इसमें अब सावधान हो जाओ ! इसको ऐसा कहते हैं कि, मैं इसमें उपयोग करता हूँ - उपयोग रखता हूँ और व्याप्यव्यापकभाव से `**तन्मय होता हूँ।**' मैं तन्मय होता हूँ। मेरा स्वरूप में, मेरे प्रदेश में मैं फैला हुआ हूँ - पसरा हुआ हूँ और अतः इसमें मैं तन्मय हूँ - उस मय हूँ। मेरे स्वरूप से मैं अलग हो जाऊँ ऐसा कहीं नहीं बनता। ध्यान को भी तन्मयता कहते हैं परंतु स्वरूप से ही तन्मय हूँ। तू खुद ही ध्येयस्वरूपरूप और ध्यानस्वरूपरूप है।

ऐसे स्वरूप को साँभालने के लिए इस आत्मभावना का स्वरूप के लक्ष्य से वेदन के Sample को आविर्भाव करके भाने जैसी है और यह कोई भी जीव जिसे आत्मरुचि हो वह भावना भाता है। प्रथम कक्षा के मुमुक्षु से लेकर मुनिदशा के साधक तक के सभी जीवों को आत्मभावना उत्पन्न होती है। भाते हैं और इससे उसे आत्मा की शांति का अनुभव होता है। इसीलिए `कृपालुदेव' ने आखरी तीन शब्द लिखें हैं `**शांतिः शांतिः शांतिः**'

इस तरह यहाँ ८३३ वाँ पत्र समाप्त होता है।

२४९

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

	ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१	जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
०२	द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग - पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्त्वचर्चा)	३०-००
०३	दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०४	दंसणमूलो धम्मो (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
०५	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
०६	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	
०७	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
०८	मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
०९	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन)	१०-००
१०	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
११	तत्त्वानुशीलन (भाग १-२-३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
१२	अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	
१३	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	
१४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	
१५	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छ: पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
१६	आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-५६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१७	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१८	अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृतोंका संकलन)	१५०-००
१९	धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	
२०	सिद्धपदका सर्वश्रेष्ठ उपाय	२५.००
२१	कुटुम्ब प्रतिबंध	२५.००

વીતરાગ સત્‌સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	ગુરુગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભ ત)	૦૫-૦૦
૦૨	જિણાસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૦૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત)	૦૨-૦૦
૦૪	દ્રવ્યદૃષ્ટિપ્રકાશ ભાગ-૩ (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીની તત્ત્વચર્ચા)	૦૪-૦૦
૦૫	દસલક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૦૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૦૭	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૦૮	પરમાત્મપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૦૯	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૧૦	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૧ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૧૧	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૨ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૧૨	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૩ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૧૩	પ્રવચન નવનીત ભાગ-૪ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ શ તઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૧૪	પ્રવચન પ્રસાદ ભાગ-૧-૨ (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૧૫	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૧૬	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૭	ભગવાન આત્મા (દ્રવ્યદૃષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૮	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૧૯	સમ્યક્‌જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૨૦	આધ્યાત્મિક પત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૨૧	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	પ્રેસમાં
૨૨	જ્ઞાનામૃત (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃતો)	૦૬-૦૦
૨૩	બીજું કાંઈ શોધ મા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૨૪	મુમુક્ષુતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૫	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભુત છ પદનો અમૃત પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૬	આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૬૯, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૭	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૮	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૨૯	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦ ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૦	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्दिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसरा (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००
३०	निर्भृात दर्शननी केडीए (गुजराती)	४५००
३१	निर्भृात दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००

३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	१५००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजराती)	२०००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२०००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२०००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	२०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	१५००